महापुरुषों की जीवनगाथायें

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक — प्राध्यापक श्री हरिवल्लभ जोशी,
एम. ए.

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रान्त

अक्टूबर १९४९] [मूल्य १।)

वक्तव्य

इस पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द के कुछ उन व्याख्यानों का संग्रह है जो उन्होंने अमेरीका में संसार के कुछ अवतारों एवं महान आत्माओं की जीवनी तथा उनके उपदेशों पर दिए थे। ये व्याख्यान प्राच्य संस्कृति और विशेष कर भारतीय शिक्षा-दीक्षा एवं सभ्यता के विशेष द्योतक हैं। महान महान अवतारों की जीवनी की विवेचना एवं ममिांसा जिस प्रकार स्वामीजी ने की है वह बड़ी अमूल्य तथा अपने ही ढंग की है। इससे पाठकों के वैयक्तिक चरित्र-गठन को संजीवनी तो प्राप्त होती ही है, साथ ही जनसमुदाय तथा समाज के लिए भी यह उसी प्रकार लाभदायक है। विद्यार्थियों तथा किशोर छात्रों का इन उदार एवं महान जीवन-चरित्रों से बड़ा ही हित होगा।

हम प्राध्यापक श्री हरिवल्लभ जोशी, एम. ए., के बड़े आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक का अनुवाद बड़ी सफलतापूर्वक किया है।

श्री पं. शुकदेव प्रसादजी तिवारी (श्री विनयमोहन शर्मा), एम. ए., एल-एल. बी., प्राध्यापक, नागपुर महाविद्यालय, के भी हम बड़े आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के कार्य में हमें उपयुक्त सूचनाएँ दी है।

श्री पं. डा. विद्याभास्करजी शुक्र, एम. एस-सी., पी-एच. डी., प्राध्यापक कालेज आफ साइन्स, नागपुर को भी धन्यवाद देते है जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ-संशोधन में हमें बहुमूल्य सहायता दी है।

नागपुर, **प्रकाशक**

१५-१०-१९४९

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानन्द

महापुरुषों की जीवनगाथायें

१. रामायण

(३१ जनवरी १९०१ ई. को कैलिफोर्निया के अन्तर्गत पॅसाडेना नामक स्थान में ' शेक्सपियर-सभा ' में दिया गया भाषण)

गीर्वाण भारती का भण्डार शत शत काव्यरत्नों से परिपूर्ण ह, किन्तु उनमें दो महाकाव्य अत्यन्त प्राचीन हैं। यद्यपि आज दो सहस्र वर्षों से संस्कृत बोल-चाल की भाषा नहीं रही है, तथापि उसकी साहित्य-सरिता आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होरही ह। मैं आज उन्हीं दो प्राचीन महाकाव्यों——रामायण व महाभारत——के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करूँगा। इन दोनों महाकाव्यों में प्राचीन आर्यावर्त की सभ्यता और संस्कृति, तत्कालीन आचार-विचार व सामाजिक अवस्था लिपिबद्ध हैं। इन महाकाव्यों में प्राचीनतर ' रामायण ' है——जिसमें राम के जीवन की कथा कही गयी है। रामायण के पूर्व भी संस्कृत में काव्य का अभाव न था। भारतीयों के पवित्र धर्मग्रंथ——वेदों का अधिकांश पद्यमय ही है, किन्तु सर्व-सम्मति से भारतवर्ष में रामायण ही आदि-काव्य माना जाता है।

इस आदि काव्य के प्रणेता हैं——आदिकवि महर्षि वाल्मीकि। कालान्तर में अनेक काव्यमय आख्यायिकाओं का कर्तृत्व भी उन्हीं आदि-कवि पर आरोपित किया गया और बाद में तो इस महाकवि के नाम से अपनी रचनायें प्रचलित करने की एक प्रथा सी चल

पड़ी। किन्तु इन सब क्षेपकों व प्रक्षिप्तांशों के होते हुये भी, रामायण हमें अत्यन्त सुग्रथित रूप में प्राप्त हुई है और वह विश्व-साहित्य में अप्रतिम है।

प्राचीन काल में किसी निबिड़ वन-प्रदेश में एक युवक निवास करता था। वह अत्यन्त बलवान और दृढ़ था। जब वह किसी भी प्रकार अपने आत्मीयों का भरण-पोषण करने में सफल न हुआ, तो अन्त में उसने दस्यु-वृत्ति स्वीकार करली। अब वह पथिकों पर आक्रमण करता और उनकी सम्पत्ति लूटकर अपने माता-पिता और स्त्री-पुत्रादि का उदर-पोषण करता। इस प्रकार कई वर्ष बीत गये। एक समय की बात है कि संयोग-वश महर्षि नारद मर्त्य-लोक का भ्रमण करते हुये उसी बन में से निकले और उस दस्यु युवक ने उन पर आक्रमण किया। महर्षि ने उससे पूछा, 'तुम मुझे क्यों लूट रहे हो? मनुष्यों का धन अपहरण करना और उनका वध करना एक बड़ा जघन्य दुष्कृत्य है। तुम क्यों यह पाप संचय कर रहे हो? दस्यु ने उत्तर दिया, 'मैं इस अपहृत धन द्वारा अपने कुटुम्बियों का पालन करता हूँ।' देवर्षि नारद यह सुनकर बोले, 'दस्यु युवक! क्या तुमने कभी इस बात का भी विचार किया है कि तुम्हारे आत्मीय जन तुम्हारे पाप में भी सह-भागी होंगे?' दस्यु बोला, 'निश्चय ही वे सब मेरे पाप का भाग भी ग्रहण करेंगे।' इस पर देवर्षि बोले, 'अच्छा तुम एक काम करो। मुझे इस वृक्ष से बाँध दो और घर जाकर अपने स्वजनों से ज़रा पूछो तो कि क्या जिस प्रकार वे तुम्हारे पापाचरण द्वारा प्राप्त वित्त का उप-

भोग करते हैं उसी प्रकार तुम्हारे संचित पापों का अंश भी ग्रहण करेंगे ? दस्यु दौड़ता हुआ अपने पिता के पास पहुँचा और उसने पूछा, 'पिताजी, क्या आप जानते हैं मैं किस प्रकार आपका पालन-पोषण करता हूँ !' पिता बोले, 'नहीं तो।' तब वह बोला, 'मैं दस्यु हूँ—पथिकों को काल के पास पहुँचा कर मैं उनका धन अपहृत कर लिया करता हूँ।' पिता ने यह सुना तो क्रोध से आरक्तनयन हो बोले, 'नीच ! पापी !! कुलाङ्गार !!! तुम मेरे पुत्र होकर यह पाप-कृत्य करते हो ? दूर हटो मेरे सामने से और अब मुझे अपना काला मुँह न दिखाना।'

दस्यु यह सुन उलटे पैरों वहाँ से लौट कर अपनी माँ के पास पहुँचा ! उसने माँ से भी दस्युवृत्ति द्वारा अपहृत धन से कुटुम्ब पालन करने की कथा कह सुनाई। माँ यह सुनते ही चीत्कार कर बोल उठी, 'उफ ! कितना घोर दुष्कर्म !' पर दस्यु के पास यह सब सुनने का धैर्य कहाँ था। उसने अधीर होकर पूछा, 'पर माँ ! क्या तुम मेरे पाप का भी भाग ग्रहण करोगी ?' माँ ने अम्लमान-मुख से कहा, 'कौन मैं ? मैं क्यों तुम्हारे पाप का भाग ग्रहण करूँ ? मैंने थोड़े ही किसी को लूटा है !' माँ का उत्तर सुन दस्यु चुपचाप अपनी पत्नी के पास पहुँचा। उसने पुनः वही प्रश्न दुहराया, 'क्या तुम जानती हो—मैं किस भाँति तुम्हारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ !' जब पत्नी ने भी नहीं कहा तो दस्यु ने कहा, 'तो सुनलो। मैं एक दस्यु हूँ—एक डाकू और लुटेरा हूँ। वर्षों से मैं पथिकों को लूट लूट कर तुम सबका उदर-पोषण कर रहा हूँ।

और आज मैं तुमसे यह पूछने आया हूँ कि क्या तुम मेरे पाप में मेरी सहभागी बनोगी ?' पत्नी ने तत्क्षण उत्तर दिया, 'नहीं—कदापि नहीं ! तुम मेरे पति हो—और मेरा पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम किसी भी भाँति अपनी कर्तव्य-पूर्ति क्यों न करो—मैं तुम्हारे कार्यों का अशुभ फल ग्रहण नहीं करूँगी।'

दस्यु ने जब यह सुना तो उसके पैरों तले की जमीन खिसक गई। पर अब उसकी आँखें खुल गई थीं। उसने कहा, 'यह है इस स्वार्थ-पूर्ण संसार की रीति! जिनके लिये मैं यह पापकृत्य कर रहा हूँ वे मेरे आत्मीय भी मेरे प्रारब्ध के भागी नहीं होंगे।' यही सोचते सोचते वह उस स्थान पर आया जहाँ उसने देवर्षि को बाँध रखा था और उन्हें बंधन-मुक्त कर वह उनके पदाम्बुजों में पतित हो, आद्योपान्त सारी घटना सुना कर बोला, 'प्रभु ! मेरी रक्षा करो—मुझे सन्मार्ग दिखाओ।' तब महर्षि नारद ने उसे स्नेह-पूर्ण वाणी में उपदेश दिया,' वत्स ! इस पाप-पूर्ण दस्यु-वृत्ति का परित्याग करदो। तुमने देख लिया है कि तुम्हारे स्वजनों को तुमसे यथार्थ में स्नेह नहीं है—इसलिये इन सब मोह-पूर्ण भ्रान्तियों का त्याग कर दो। तुम्हारे परिवार-जन, तुम्हारे ऐश्वर्य में तुम्हारा साथ देंगे, पर जिस क्षण उन्हें ज्ञात होजायगा कि तुम दरिद्र होगये हो, उसी क्षण वे तुम्हें तुम्हारे दुःख में अकेला छोड़कर चले जायेंगे। संसार में सुख व पुण्य के भागी तो अनेकों होजाते हैं किन्तु दुःख और पाप का साथी कोई नहीं होना चाहता। इसलिये उस दयानिधि परमेश्वर की उपासना करो जो सुख-दुःख, पाप-पुण्य सभी अवस्थाओं में तुम्हारा साथ देता है

और रक्षा करता है। वह कदापि हमारा परित्याग नहीं करता, क्योंकि उसका प्रेम यथार्थ है और यथार्थ प्रेम में कभी विनिमय नहीं होता, वह स्वार्थ-परता से कोसों दूर रहता है और वह आत्मा को उन्नत बनाता है।"

तदुपरान्त देवर्षि नारद ने उस दस्यु युवक को ईश्वरोपासना की विधि सिखलाई। उनके उपदेशों से प्रभावित हो दस्यु का हृदय मोह-शून्य होगया और वह सर्वस्व परित्याग कर सघन अरण्य-प्रदेश में साधना करने चला गया। वहाँ ईश्वराराधना और ध्यान में वह धीरे धीरे इतना तल्लीन होगया कि उसे देह-ज्ञान भी न रहा—यहाँ तक कि चींटियों ने उसकी देह पर अपने वल्मीक बना लिये और उसे इसका भान तक न हुआ। अनेक वर्ष व्यतीत होजाने पर एक दिन दस्यु को यह गम्भीर ध्वनि सुनाई पड़ी, "उठिये, महर्षि, उठिये।" वह चकित होकर बोल उठा, "महर्षि? नहीं—मैं तो एक अधम दस्यु हूँ।" फिर वही गम्भीर वाणी उसे सुनाई दी, "अब तुम दस्यु नहीं रहे—अब तुम्हारा हृदय पवित्र होगया है—तुम अब तपोपूत महर्षि हो—और आज से तुम्हारे पापों के नाश के साथ साथ तुम्हारा वह पुराना नाम भी लुप्त होजायगा। तुम्हारी समाधि इतनी गहन थी—तुम ईश्वर-ध्यान में इतने तल्लीन होगये थे कि तुम्हारी देह के चतुर्दिक जो वल्मीक बन गये, उनका तुम्हें ज्ञान तक न हुआ—इसलिये आज से तुम वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हुये।" इस प्रकार वह दस्यु ध्यान और तपस्या के बल से एक दिन महर्षि वाल्मीकि के नाम से विख्यात होगया।

और जिस प्रकार इस विगत-मोह महर्षि के हृदय से काव्य-

सरिता बह निकली उसकी कथा इस प्रकार है। एक दिन पवित्र भागीरथी सलिल में अवगाहनार्थ जाते हुये महर्षि ने एक क्रौञ्च-मिथुन को प्रणय-केलि में मग्न हो परस्पर का आलिङ्गन करते हुए परमानन्द में मग्न देखा। महर्षि इस प्रणय-क्रीड़ा को देखकर अतीव हर्षित हुये, किन्तु उसी क्षण उनके समीप से एक सनसनाता हुआ तीर निकला जिसने नर-क्रौञ्च को विद्ध कर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। उसे भूमि-पतित देख कर क्रौञ्च-वधू शोकाभिभूत हो उसकी मृतदेह के चतुर्दिक मँडराने लगी। महर्षि यह करुण दृश्य देख शोकविह्वल होगये—और जब उनकी दृष्टि इस क्रूर कर्म के कर्ता निष्ठुर वधिक की ओर गई तो उनके दुःख और शोक का आवेग, उनके हृदय की करुणा इस निम्न श्लोक का रूप धारण कर उनके मुख से निस्सृत होगई :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

वे बोल उठे, "हे व्याध ! हे क्रूर पाषण-हृदय व्यक्तिं ! क्या तुममें बिन्दु-मात्र भी दयाभाव नहीं है जो तुम्हारे कठोर हाथ प्रणय-क्रीड़ामग्न दो भोले पक्षियों को देखकर क्षण के लिये भी अपना विध्वंस-कार्य करते न रुके ? जाओ—तुम्हारे हृदय को अनन्त काल तक भी शान्ति प्राप्त न हो।"

मुख से इस श्लोक के निर्गत होते ही महर्षि मन में सोचने लगे, यह क्या है ? यह मैं क्या बोल रहा हूँ ? इसके पूर्व तो कभी मैं इस प्रकार नहीं बोला था ? उसी समय उन्हें एक वाणी सुनाई

दी, "वत्स, डरो मत, आज तुम्हारे हृदय की विगलित करुणा, कविता बन प्रकट हो रही है—और तुम लोक-कल्याण के लिये ऐसी ही काव्यमय भाषा में राम के चरित्र का वर्णन करो।" इस प्रकार प्रथम-कविता की सृष्टि हुई। इस प्रकार विश्व के इस अप्रतिम महाकाव्य—भारतीयों के आदि काव्य—रामायण की रचना प्रारम्भ हुई। प्रथम कवि वाल्मीकि के हृदय की करुणा ही विश्व के आदि काव्य का आदि-श्लोक बन गई और उसके बाद महर्षि ने परम मनोहर रामायण महाकाव्य की रचना की। भारतवर्ष में अयोध्या नाम की एक सुन्दर नगरी थी जो आज भी विद्यमान है। भारत के मान-चित्र में आपने देखा होगा जिस प्रान्त में इस नगरी का स्थान-निर्देश किया गया है उसे आज भी अवध ही कहते हैं। यही प्राचीन अयोध्या थी। वहाँ पुरातन काल में राजा दशरथ राज्य करते थे। उनका अन्तःपुर तीन रानियों से सुशोभित था, किन्तु अब तक राजा को पुत्र के मुखावलोकन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये धर्मपरायण हिन्दुओं की भाँति, राजा अपनी तीनों रानियों सहित, पुत्र-कामना से व्रतोपवास धारण कर, देवा-राधना करते हुये दिन यापन करने लगे। कालान्तर में राजा को चार पुत्र-रत्न प्राप्त हुये। उनमें सबसे ज्येष्ठ राम थे। चारों राजकुमार अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। उन्होंने शीघ्र ही सभी विद्याओं में प्रवीणता सम्पादित करली।

उसी युग में एक और राजा थे जिनका नाम जनक है। उनके सीता नामक एक अनिन्द्य सुन्दरी कन्या थी। सीता एक

खेत में मिली थीं; वे सर्वंसहा पृथ्वी की पुत्री थीं—उनके जन्मदाता कोई नहीं थे। प्राचीन संस्कृत में सीता शब्द का अर्थ होता है—हलकृष्ट भूमिखण्ड, जोती हुई भूमि। भारत के प्राचीन पुराणों में इस प्रकार के अलौकिक जन्मों की अनेक कथायें मिलती हैं। पुराणों में सर्वत्र ऐसे व्यक्तियों का वर्णन मिलता है जिनका जन्म केवल पिता से ही हुआ है या माता से; या जिनके कोई जनक-जननी ही न थे—जिनका जन्म मखाग्नि से हुआ है या कृष्ट-भूमि से हुआ—मानो ये व्यक्ति आकाशगामी बादलों से गिर कर पृथ्वी पर अवतीर्ण होगये हों।

सीता तो पृथ्वी-सुता ही थीं—अतएव वे निष्कलङ्क और शुद्ध थीं। राजा जनक ने उनका लालन-पालन किया। जब सीता आसन्न-यौवना हुईं तो राजा ने उनके लिये एक सुयोग्य वर ढूँढ़ना चाहा।

प्राचीन भारत में विवाह की 'स्वयंवर' नामक एक प्रथा थी—जिसमें राज-पुत्रियाँ स्वयं अपने पति का निर्वाचन करती थीं। देश के विभिन्न प्रदेशों से राजपुत्र-जन निमन्त्रित किये जाते थे और पतिंवरा राज-कुमारी सुन्दर वस्त्राभरण-विभूषिता हो, कर में वर-माला धारण कर एकत्र राजपुत्र-समुदाय के मध्य जाती थी—उसके साथ विभिन्न राजपुत्रों की वंशावली व शौर्य-प्रताप से परिचित एक चारण रहता था जो उसे विवाहेच्छु राजकुमारों के सम्मुख ले उनका बिरुद्‌गान करता था। राजकन्या जिस राजपुत्र को अपना हृदयेश्वर मनोनीत करती, उसीके गले में वरमाला अर्पण कर देती थी। और इसके बाद बड़े समारोह के साथ पाणि-ग्रहण-संस्कार सम्पन्न

होता था। इन स्वयंवरों में कभी कभी विवाहेच्छु राजपुत्रों के विद्या-बुद्धि-बल के परीक्षणार्थ कुछ विशेष प्रण भी निर्दिष्ट कर दिये जाते थे।

मिथिला की अनिन्द्य-सुन्दरी राजकन्या से विवाह करने के लिये अनेक राजपुत्र उत्सुक थे। इस अवसर पर विशाल हर-धनु को भंग करने का प्रण रखा गया था। सभी राजपुत्र इस शौर्यपूर्ण कार्य को सम्पादित करने के लिये प्राणपण से प्रयत्न करने लगे—किन्तु असफल रहे। अन्त में राम ने प्रचण्ड हरधनु को अपने बलवान हाथों से उठा कर सहज ही में दो खण्डों में भंग कर दिया। इस प्रकार सीता ने दशरथ के पुत्र राम को वरमाला अर्पित कर दी; पुरजनों के आनन्द की सीमा न रही। आनन्दोत्सव के साथ राम और सीता की परिणय-क्रिया सम्पन्न हुई।

किसी राजा के निधन के पश्चात् राजपुत्रों में सिंहासन के लिये विग्रह न हो इसलिये उस युग में राजा के जीवन-काल में ही किसी एक राजपुत्र को युवराज नियुक्त कर देने की प्रथा थी। जब राम अपनी नवोढ़ा रानी के साथ अयोध्या आगये, तो दशरथ ने सोचा कि मैं अब वृद्ध हो चला हूँ—और राम भी वयःप्राप्त होगये हैं—इसलिये वे युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिये जायँ। शीघ्र ही इस मंगल उत्सव की सारी तैय्यारियाँ होगई और सारी नगरी में हर्ष का पारावार उमड़ आया। किन्तु इसी समय राजा की प्रियतमा राजमहिषी कैकेयी की एक परिचारिका ने राजा द्वारा किसी समय प्रदान किये गये दो वरों का स्मरण उसे कराया। किसी समय राजा दशरथ कैकेयी से अत्यन्त प्रसन्न होगये थे और उन्होंने उसे दो

वर माँगने को कहा। वे बोले, "तुम कोई भी दो वर मुझसे माँग लो—और यदि उन्हें पूर्ण करना मेरे सामर्थ्य के बाहर न हुआ तो मैं इसी क्षण उन्हें पूर्ण कर दूँगा।" किन्तु रानी ने उस समय कोई वर नहीं माँगा। वह तो यह घटना पूर्णतया भूल भी गई थी किन्तु उसकी दुष्ट-स्वभाव दासी ने उसके हृदय में ईर्ष्याग्नि प्रज्वलित कर दी। दासी ने रानी से कहा, "राम के युवराज होने पर भरत का क्या होगा! और कौशल्या जब राजमाता होजायेगी तो तुम्हें कोई न पूछेगा। यदि भरत राज्य के उत्तराधिकारी बन जायँ तो तुम राजमाता का गौरवमय स्थान प्राप्त करोगी और जीवन सुखपूर्ण होजायगा।" दुष्ट दासी की मन्त्रणा से रानी ईर्ष्या-वश उन्मत्त-प्राय होगई। अब उस दुष्ट दासी ने उसे अपने वरदान लेने के अधिकार का स्मरण करवाकर कहा, "राजा से इन दो वरों की प्रार्थना करो कि भरत युवराज-पद पर अभिषिक्त हों और राम चौदह वर्ष वन-वास करें।"

राम तो राजा के जीवनधन थे—उसके प्राण और आत्मा थे। एक ओर राम के वियोग का दारुण दुःख—और दूसरी ओर प्रतिज्ञा-पालन का प्रश्न था—रघुकुल की मर्यादा की रक्षा का सवाल था। 'रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जायँ पर वचन न जाई।' राजा किंकर्तव्यमूढ़ होगये। तब राम ने राजा की इस उभय-संकट से रक्षा की। वे स्वयं ही सिंहासन त्याग कर वन-गमन के लिये प्रस्तुत होगये जिससे पिता के वचन भंग न हों। इस प्रकार राम ने चतुर्दश वर्ष के लिये वन की ओर प्रस्थान किया—साथ में

उसकी प्रिय भार्या पतिपरायणा सीता और अनुज लक्ष्मण भी थे जो किसी भाँति राम का साथ नहीं छोड़ना चाहते थे।

उन दिनों आर्यों को यह ज्ञात नहीं था कि इन सघन वन-कान्तारों में कौन निवास करते थे। वे इन वन्य-जातियों को 'वानर' कहते थे—और इन तथाकथित 'वानरों' में या असभ्य वन्य जातियों में जो अत्यन्त दृढ़ और असाधारण बलसम्पन्न थे उन्हें वे दैत्य या राक्षस कहते थे।

इस प्रकार राम, लक्ष्मण और सीता ने वानर व राक्षसगण द्वारा अध्यूषित वन में गमन किया। इसके पूर्व जब सीता ने राम के साथ वन में प्रयाण करने की अभिलाषा प्रकट की तो राम ने कहा, "राज-प्रासाद में निवास करने वाली हे सीता! तुम किस प्रकार संकट-पूर्ण वन-जीवन के कष्ट सह सकोगी?" किन्तु सीता बोलीं, "नाथ! जहाँ आप जायँगे वहीं आपकी आर्धाङ्गिनी सीता भी छाया की भाँति साथ रहेगी। आप मुझसे 'राजकन्या' और 'राज-वंश-जन्म' की बातें क्यों कह रहे हैं? देव! मैं तो सदैव आपकी संगिनी ही बनकर रह सकती हूँ।" इस प्रकार असूर्यम्पश्या राजदारा सीता, आमोद-पूर्ण राज-सौधों की निवासिनी सीता ने पति के संग को अन्य आमोदों से सुखकर समझ राम का साथ न छोड़ा। और अनुज लक्ष्मण भी भला बंधु का वियोग कैसे सह सकते थे! वह भी उनके साथ ही गए।

वे गहन कान्तार-राजि पार कर गोदावरीतीर-वर्ती रमणीय पञ्चवटी नामक स्थान में पर्ण-कुटि बनाकर निवास करने लगे। राम

और लक्ष्मण दोनों ही मृगया करने चले जाते और कुछ कन्द-मूल-फल भी संग्रह कर लाते। इस प्रकार निवास करते हुये कुछ काल व्यतीत होजाने पर, एक दिन वहाँ लंकाधिपति राक्षसराज रावण की बहिन शूर्पणखा आई। अरण्य में स्वच्छन्द विचरण करते करते उसे एक रोज राजीव-लोचन राम दृष्टिगत हुये। उनके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो वह उनसे प्रणय की भिक्षा माँगने लगी। किन्तु राम एक-पत्नीव्रतधारी थे, पुरुषोत्तम थे—इसलिये राक्षसी की अभिलाषा पूर्ण करने में असमर्थ थे! उसके हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठी। क्रुद्ध हो वह अपने भाई राक्षस-राज रावण के पास पहुँची और उसे सीता के अप्रतिम लावण्य की बात कही।

प्रचण्ड हर धनु को भंग करने से राम की सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न पुरुष के रूप में ख्याति होगई थी। वे मर्त्यों में सबसे अधिक बलिष्ठ थे। राक्षसों और दैत्यों तथा किसी अन्य जीवधारी में उनसे लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। इसलिये राक्षस-राज रावण को सीता का हरण करने के लिये अपनी राक्षसी माया का आश्रय लेना पड़ा। उसने एक अन्य राक्षस की सहायता ग्रहण की। यह राक्षस अत्यन्त मायावी था। उसने एक सुन्दर स्वर्ण-मृग का रूप धारण किया और राम की पर्ण-कुटी के सामने सुमनोहर नृत्य और अङ्ग-भंगी प्रदर्शित कर क्रीड़ा करने लगा। सीता उसके लावण्य पर मुग्ध होगईं और उन्होंने राम से उसे पकड़ लाने की प्रार्थना की। राम ने सीता की रक्षा के लिये लक्ष्मण को वहीं छोड़ वन में मृग का पीछा करना शुरू किया। तब लक्ष्मण कुटि के चतुर्दिक एक मंत्रपूत अग्नि-वृत्त

प्रज्वलित कर सीता से बोले, "देवि! मुझे आज आपके कुछ अनिष्ट होने की आशंका होरही है। इसलिये आप इस मंत्रपूत अग्नि-वृत्त के बाहर पदार्पण न करें—अन्यथा आपका कुछ अशुभ घटित होजायगा।" इधर राम ने अपने एक तीक्ष्ण शर से उस माया-मृग को विद्ध कर दिया और वह तत्काल अपना स्वाभाविक रूप धारण कर पञ्चत्व को प्राप्त होगया।

उसी क्षण पर्ण-कुटि के समीप राम का यह आर्त-स्वर सुनाई पड़ा, "दौड़ो लक्ष्मण, मेरी सहायता के लिये दौड़ो।" सीता ने यह सुनकर लक्ष्मण से तत्काल राम की सहायतार्थ वन में जाने को कहा। लक्ष्मण बोले, "देवि! यह रामचन्द्र की कण्ठ-ध्वनि नहीं है।" किन्तु सीता के बार बार सानुक्रोश अनुरोध करने पर लक्ष्मण राम की खोज में वन की ओर चले गये। उनके जाते ही राक्षस-राज रावण साधु-वेष में कुटि के द्वार पर आ खड़ा हुआ और भिक्षा-याचना करने लगा। सीता बोलीं, "आप कुछ क्षण प्रतीक्षा करें। तब तक मेरे स्वामी आजाते हैं—फिर मैं आपको यथेष्ट भिक्षा दूँगी।" साधु बोला, "मैं अत्यन्त क्षुधार्त हूँ, देवि! एक क्षण भी प्रतीक्षा करने में असमर्थ हूँ। आप मुझे जो आपके पास है वही देदें।" इस पर सीता कुटि में रखे हुये जो थोड़े बहुत फल थे उन्हें बाहर ले आईं। जब छद्म-वेष धारी साधु ने देखा कि वे अग्नि-वृत्त के भीतर से ही भिक्षा दे रही हैं तो वह अत्यन्त विनय-पूर्वक बोला, "देवि! काषाय-वस्त्रधारी साधुओं से क्या 'भय! आप बाहर पदार्पण कर सुगमता से भिक्षा प्रदान करें।" इस अनुनय-

विनय व अनुरोधभरी प्रार्थना से प्रभावित हो ज्योंही वे अग्नि-वृत्त के बाहर आईं त्योंही उस छद्म-पूर्ण साधु ने राक्षस-देह में प्रकट हो, सीता को अपने बलवान बाहुओं में उठा लिया। फिर उसने अपने माया-रथ का आह्वान किया, और रोती हुई सीता को उसमें स्थापित कर वह लंका की ओर पलायन करने लगा। बेचारी नितान्त निस्सहाय सीता! उस समय वहाँ कौन था जो उनकी सहायता करता? जब राक्षस-राज उन्हें अपने रथ में ले जा रहा था तो सीता ने मार्ग में कुछ कुछ अन्तर पर अपने अलङ्कार गिरा दिये।

रावण सीता को अपने राज्य—लंका में लेगया। उसने सीता से अपनी राज-महिषी का पद सुशोभित करने का अनुरोध किया और अपनी प्रार्थना स्वीकृत कराने के लिये कई प्रकार के भय-प्रलोभनादि दिखाये। किन्तु सीता तो स्वयं सतीत्वधर्म की विग्रह-स्वरूप थीं। वे उस दुष्ट से बोलीं तक नहीं। रावण ने क्रुद्ध हो सीता को दण्डित करने के लिये जब तक वे उसकी पत्नी बनना स्वीकृत नहीं करतीं तब तक उन्हें एक वृक्ष के नीचे दिवा-रात्र निवास करने के लिये बाध्य किया।

जब राम और लक्ष्मण को लौटने पर कुटि में सीता नहीं दिखीं तो उनके शोक की सीमा न रहा। सीता की क्या दशा हुई है इसकी वे कल्पना तक न कर पाये। दोनों भ्राता वन के विजन कण्टकाकीर्ण मार्गों में साता की खोज में भटकते रहे, पर सीता का कोई चिह्न न मिलता था। इस प्रकार दीर्घ काल तक वन वन भटकने के पश्चात् उनकी एक 'वानर' यूथ से भेंट हुई। इन्हीं

वानरों में देवांशसम्भूत हनुमान थे। कालान्तर में ये ही वानर-श्रेष्ठ हनुमान राम के अनन्य सेवक बन गये और उन्होंने सीता के उद्धार में राम की विशेष सहायता की। राम के प्रति हनुमान की भक्ति और श्रद्धा इतनी अनन्य थी कि आज भी हिन्दू उन्हें परम गहन सेवाधर्म के आदर्श व प्रभु के अप्रतिम सेवक की भाँति पूजते हैं। यहाँ आप यह स्मरण रखें कि वानरों और राक्षसों से हमारा मतलब है—दक्षिण भारत के आदि निवासी। हाँ—तो इस प्रकार अन्त में राम की वानरों से अचानक भेंट होगई। वे राम से बोले कि उन्होंने आकाश-मार्ग से जाता हुआ एक रथ देखा। उसमें एक राक्षस था जो एक परम सुन्दरी रमणी को बलपूर्वक लिये जारहा था। वह स्त्री अत्यन्त करुण विलाप कर रही थी और जब रथ उनके ऊपर से गया तो उनका ध्यान आकर्षित करने के लिये उस स्त्री ने अपने रत्नाभरण हमारे पास फेंक दिये। लक्ष्मण ने उन आभरणों को लेकर कहा, "मुझे ज्ञात नहीं ये किनके हैं!"

"नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपूरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥"

राम ने उन्हें देखते ही पहिचान लिया और वे बोल उठे, "अरे, ये तो सीता के ही हैं।" लक्ष्मण उन आभरणों को इसलिये नहीं पहिचान सके, कि भारत में ज्येष्ठ बंधु की भार्या इतनी सम्मान-पूर्ण दृष्टि से देखी जाती थी कि लक्ष्मण ने कभी उनके बाहुओं व ग्रीवा-देश पर दृष्टि-पात नहीं किया था। स्वाभाविकतया उन कण्ठ-

हारादि को लक्ष्मण नहीं पहिचान सके। इस कथा-भाग में भारत की उसी प्राचीन प्रथा का आभास पाया जाता है।

तदुपरान्त वानरों ने राम को रावण का नाम-धाम व पता बताया और वे सब सीता की खोज में राम की सहायता करने लगे।

उन्हीं दिनों वानर-राज बालि व उसके अनुज सुग्रीव में सिंहासन के लिये विवाद होरहा था। अमित शक्ति-शाली राम ने सुग्रीव की सहायता की और बालि से राज्य छीन कर उसके न्याय-पूर्ण अधिकारी—निर्वासित सुग्रीव को प्रदान कर दिया। सुग्रीव ने कृतज्ञ हो, राम को सहायता का वचन दिया। वानरों ने सारे देश को सीता की खोज में छान डाला पर उनका कहीं भी पता न चला। अन्त में कपि-शार्दूल, पवन-सुत हनुमान ने एक ही छलाँग में विशाल उदधि पार कर, सीता को खोजने लंका में प्रवेश किया, किन्तु सर्वत्र अन्वेषण कर लेने पर भी सीता कहीं नहीं दिखीं।

आपको ज्ञात होगा—राक्षसराज रावण ने देव-मानवादि सब, यहाँ तक कि सकल ब्रह्माण्ड पर विजय पा ली थी। उसने विश्व की सुन्दर युवतियों को बल-पूर्वक अपनी उपपत्नियाँ बना ली थीं। हनुमान ने सोचा, "सीता का उनके साथ राज-प्रासाद में होना तो असम्भव है—ऐसे स्थान में वास करने की अपेक्षा तो वे मृत्यु को ही अधिक श्रेयस्कर समझेंगी।" अतएव हनुमान अन्यत्र सीता की खोज करने लगे। अन्ततोगत्वा उन्होंने सीता को एक वृक्ष के नीचे देखा। कृशगात्री और पाण्डु-वर्णा सीता उन्हें क्षितिज में नवोदित प्रतिपदा की शशि-

कला-सी प्रतीत हुईं। हनुमान एक अल्पकाय क्षुद्र वानर का रूप धारण कर उस वृक्ष पर आसीन होगये। वहाँ से उन्होंने देखा—किस प्रकार रावण द्वारा प्रेषित राक्षसी-गण सीता को नाना-प्रकार के भय दिखलाकर वशीभूत करने की चेष्टा कर रही हैं—किन्तु सीता दुष्ट रावण के नाम तक को कर्ण-गोचर न होने देती थीं।

उनके प्रस्थान करने पर, हनुमान सीता के समीप आकर बोले, "देवि! रामचन्द्र ने आपके अन्वेषणार्थ मुझे अपना दूत बनाकर भेजा है।" तब हनुमान ने सीता को विश्वास दिलाने के लिये राम-प्रदत्त मुद्रा दिखाई। उन्होंने सीता से यह भी विज्ञापित किया कि उनका पता लगते ही राम एक सागर सी विशाल सेना लेकर राक्षस को पराजित करेंगे और आपका उद्धार करेंगे। यह सब निवेदन करने के पश्चात् हनुमान बोले, "देवि, यदि आपको आपत्ति न हो, तो मैं अपने सुदृढ़ कंधों पर आपको बिठा, एक ही छलाँग में विशाल उदधि को लाँघ कर राम के पास पहुँचा दूँ।" पर सीता तो स्वयं सतीत्व की प्रतिमा थीं—उन्हें तो पर-पुरुष-स्पर्श की कल्पना तक असह्य थी। इसलिये वे वहीं रहीं, पर उन्होंने अपने केशों से एक मणि निकालकर राम तक पहुँचाने के लिये हनुमान को दे दी और हनुमान उसे लेकर लौट आये।

हनुमान से सीता का संवाद पाकर, राम ने एक सेना संगठित की, और उसे ले भारत के सुदूर-दक्षिण प्रदेश की ओर प्रयाण किया। वहाँ राम के आज्ञाकारी, स्वामीभक्त वानरों ने एक विशाल सेतु का निर्माण किया। इसका नाम सेतु-बंध है—और इससे

भारत और लंका की सीमायें संलग्न होगईं। उथले पानी में अब भी भारत से लंका में इन बालुका-स्तूपों की सहायता से जाया जासकता है।

राम ईश्वर के अवतार थे; अन्यथा वे ये सब दुष्कर कार्य कैसे कर सकते थे? हिन्दू उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर पूजते हैं। भारतीयों के मतानुसार वे ईश्वर के सातवें अवतार हैं।

सेतु-निर्माण के समय वानरों ने पर्वत-खण्ड उखाड़ उखाड़ कर समुद्र में स्थापित कर दिये—और उन्हें विशाल वृक्षों व शिलाओं से आच्छादित कर एक प्रचण्ड सेतु बात की बात में निर्माण कर लिया। कहा जाता है कि एक छोटी सी गिलहरी भी बालुका-राशि में लोट-लोटकर उस सेतु पर दौडती और अपना शरीर झाड़कर कुछ सिकता-कण वहाँ बिखेर देती। इस प्रकार मिट्टी ला-लाकर वह भी अपनी लघु शक्ति के अनुसार उस बृहत् सेतु के निर्माणकार्य में राम की सहायता कर रही थी। वानरगण उसका यह कार्य देखकर हँसने लगे। वे तो विशालकाय पर्वत-खण्डों, विस्तृत वन-प्रदेशों और बालुका-राशि को उठा उठा कर लारहे थे—इसलिये बालू में लोट-लोट कर संचित किये हुये एक-दो मिट्टी के कणों को विशाल सेतु पर झाड़ती हुई उस गिलहरी का वे उपहास करने लगे। पर जब राम ने गिलहरी के इस उद्यम को व वानरों के उपहास को देखा तो वे बोले, "इस अल्पकाय गिलहरी का मंगल हो। यह प्राणपण से अपनी समस्त शक्ति जुटाकर काम कर रही है—इसलिये वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वानर से अंश मात्र भी न्यून नहीं है।" यह कह-

कर उन्होंने उस गिलहरी की पीठ स्नेह-पूर्वक अपने हाथों से थपथपायी—और आज भी राम की उन उंगलियों के चिह्न गिलहरी की पीठ पर दृष्टिगोचर होते हैं।

सेतु-निर्माण-कार्य पूर्ण होजाने पर राम और उनके अनुज लक्ष्मण द्वारा संचालित समस्त वानर-वाहिनी ने सागर पार कर लंका में प्रवेश किया। कई मास तक घमासान युद्ध और भीषण रक्तपात चलता रहा। अन्त में विजय-श्री राम के हाथ लगी—राक्षस-राज रावण युद्ध में काम आया और उसकी राजधानी व उसके स्वर्ण-निर्मित राज-प्रासादों पर राम का आधिपत्य होगया। आज भी जब मैं भारत के हृदय-प्रदेश में स्थित सुदूर ग्रामों में सरलहृदय ग्रामीणों से यह कहता हूँ कि मैंने लंका का भ्रमण किया है तो वे कह उठते हैं—"अहा! रामायण में लिखा है कि वहाँ सोने के महल हैं।" अस्तु।

रावण के अनुज विभीषण की सहायता के प्रतिदान स्वरूप स्वर्णमयी लंका प्रदान कर राम ने उसे राज-सिंहासन पर आरोहित किया।

तदन्तर राम ने लक्ष्मण और सीता सहित लंका से प्रस्थान किया। किन्तु इसी समय उनके साथियों और अनुयायियों में एक असंतोष की लहर दौड़ पड़ी। लोग सीता की पवित्रता पर सन्देह करने लगे। शनैः शनैः एक सामूहिक आवाज उठी, "परीक्षा! परीक्षा!! सीता ने अपनी पवित्रता की परीक्षा नहीं दी है।" राम को यह असह्य था। वे बोले, "सीता स्वयं पातिव्रत्य-धर्म की प्रति-

मूर्ति हैं—उनकी परीक्षा कैसी ? " पर लोग नहीं माने—वे अपनी बात पर अटल रहे । " हमें सीता की पवित्रता का प्रमाण चाहिये—हम परीक्षा चाहते हैं । " राम को जनमत के सामने झुकना पड़ा । निदान एक प्रचण्ड यज्ञाग्नि प्रज्वलित की गई और सीता को उसमें प्रवेश करने की आज्ञा हुई । राम शोक से मुह्यमान होरहे थे—उन्हें आशंका हो रही थी कि अब आमरण सीता का वियोग सहन करना पड़ेगा । किन्तु दूसरे ही क्षण सब ने विस्मित नयनों से देखा कि स्वयं अग्निदेव प्रकट हो गये हैं और उनके शीर्षस्थित सिंहासन पर वैदेही विराजमान हैं । अब सभी संतुष्ट होगये और चारों ओर आनन्दोत्सव मनाया गया ।

राम ने जब वन-वास के लिये अयोध्या का परित्याग किया था, तब उनके अनुज कैकेयी-सुत भरत अपने ननिहाल में थे । जब उन्हें अयोध्या लौटने पर राम-वन-गमन का दुःखद संवाद ज्ञात हुआ, तो वे अविलम्ब अरण्य में राम से मिलने निकल पड़े । उन्होंने राम से पिता के निधन का हृदयविदारक संवाद कहा और उन्हें लौटकर सिंहासनासीन होने की प्रार्थना की । किन्तु राम सहमत न हुये । उन्होंने भरत को लौटकर धर्मपूर्वक शासन करने का उपदेश दिया । भरत ने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति अपने परम अनुराग और भक्ति-भाव के प्रतीक स्वरूप राम की पादुकायें सिंहासन पर रख दीं और स्वयं राम के प्रतिनिधि के रूप में राज-कार्य सँभालने लगे । जब राम अयोध्या लौट आये तो पुर-जनों की अनुरोधपूर्ण अभ्यर्थना को स्वीकृत कर सिंहासन पर आरूढ़ हुये ।

राज्याभिषेक के अवसर पर राम ने यथाविधान वे सब व्रत ग्रहण किये जो प्राचीन भारत में प्रजा-पालन व लोक-कल्याण के लिए आवश्यक समझे जाते थे। उस युग में राजा प्रजा का सेवक व दास समझा जाता था, और उसे सदैव लोकमत का आदर करना पड़ता था—उसके सामने झुकना पड़ता था।

राम पुत्र की भाँति प्रजा का पालन करने लगे। इस प्रकार कुछ ही वर्ष उन्होंने सीता सहित सुख-पूर्वक व्यतीत किये थे कि एक लोकापवाद की लहर पुनः उत्थित हुई। गुप्तचरों ने राम को सूचना दी कि प्रजा सीता की पवित्रता में संदेह करती है, क्योंकि सीता का एक राक्षस ने हरण कर लिया था और वे सागर पार उसकी नगरी में रही हैं। उन्हें सीता की अग्नि-परीक्षा से संतोष न था। वे चाहते थे—सब के सामने एक नई परीक्षा ली जाय, और नहीं तो सीता देश से निर्वासित करदी जायँ।

जनता के संतोष-विधानार्थ राम ने कठोर हृदय कर अपनी प्राण-प्रिया सीता को भी देश से निर्वासित होने की आज्ञा देदी। अयोध्या की महारानी सीता परित्यक्ता होकर विलाप करती हुई विपिन में विचर रही थी। रोरुद्यमाना मैथिली पर महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि पड़ी। उसकी करुण कथा सुनकर वे उसे अपने आश्रम में ले आये। सीता आसन्नप्रसवा थीं और कालान्तर में उन्होंने दो यमज पुत्रों को जन्म दिया। आदि-कवि वाल्मीकि ने उन बालकों को उनका यथार्थ परिचय कभी नहीं दिया। उपयुक्त वय प्राप्त होने पर महर्षि ने उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करवा यथाविधान शिक्षा देनी प्रारम्भ की।

इन्हीं दिनों महर्षि ने रामायण महाकाव्य की रचना की और उसे सुरताल से संयोजित कर एक रूपक तैयार किया।

भारत में नाटक एक अत्यन्त पवित्र वस्तु समझी जाती थी। नाद व संगीत की साधना धर्म-साधना मानी जाती थी। लोगों की धारणा थी कि कोई भी गीत—चाहे वह प्रेम-संगीत हो या इतर-विषयक—यदि तन्मयतापूर्वक गाया जाय तो उससे अवश्य मुक्ति-लाभ होगा। जो फल-निष्पत्ति ध्यान द्वारा प्राप्त होती है वही संगीत की साधना से भी प्राप्त है।

वाल्मीकि ने रामायण पर एक रूपक आधारित किया और राम के दोनों पुत्रों को उसे स्वर-ताल पूर्वक गाना, और उसका अभिनय करना सिखाया।

भारत के प्राचीन नृपगण अश्वमेधादि बड़े बड़े यज्ञ किया करते थे; राम ने भी तदनुसार अश्वमेध करने का संकल्प किया। किन्तु भारत में किसी भी गृहस्थ को पत्नी बिना कोई भी धर्मानुष्ठान करने का अधिकार नहीं है। पत्नी को भारत में सहधर्मिणी का गौरव प्राप्त है। गृहस्थ को शत शत धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, किन्तु जब तक उसकी सहधर्मिणी उसके साथ बैठकर उनमें योग नहीं देती, तब तक कोई अनुष्ठान विधिपूर्वक अनुष्ठित नहीं माना जाता।

सीता को तो देश-निर्वासन की आज्ञा दी जाचुकी थी। इसलिये लोगों ने राम से पुनः विवाह कर लेने की प्रार्थना की। किन्तु राम पुरुषोत्तम और एक पत्नी-व्रतधारी थे। इस समय वे

जीवन में पहिली बार जनमत के विरोध में खड़े हुये । वे बोले, " यह असम्भव है । मेरा जीवन तो सीता को समर्पित हो चुका है । " इसलिये शास्त्र-विधि का आदर रखने के लिये सीता के स्थान पर, उनकी प्रतिनिधि स्वरूप एक स्वर्ण-प्रतिमा आसीन करदी गई । इस महोत्सव में जनता में धर्म-भाव व आनन्दवर्धन के लिये नाटक व संगीतादि का भी आयोजन किया गया । राम के दोनों अज्ञात पुत्र—लव और कुश को साथ लेकर महाकवि महर्षि वाल्मीकि भी इस अवसर पर आये थे । सभास्थल में एक रंगमञ्च शीघ्र ही निर्मित कर लिया गया था और अन्य आवश्यक आयोजन भी पूर्ण कर लिये गये । सभा-मण्डप में राम और उनके भ्रातृगण, अमात्य-वर्ग व अयोध्या की सम्पूर्ण जनता उपस्थित थी । वाल्मीकि के निर्देशानुसार लव और कुश ने मधुर स्वरों में रामायण का गान और अभिनय प्रारम्भ किया। सारा जन-समुदाय उनकी वाणी और सुन्दरता पर मुग्ध होगया । राम तो शोकोन्मत्त होरहे थे और जब वैदेही-वनवास का प्रसंग आया तो वे विह्वल व किंकर्तव्य-विमूढ़ हो उठ खड़े हुये। तब महर्षि ने उनसे कहा, " राजन्, शोकार्त न होइये, मैं इसी क्षण सीता को आपके समक्ष उपस्थित कर देता हूँ । " तब सीता सभा-मञ्च पर लाई गईं और राम अपनी परित्यक्ता पत्नी को पुनः पाकर अतीव हर्षित हुये। किन्तु इसी क्षण वही पुराना असंतोष फिर जनता में प्रकट होगया । ' परीक्षा, परीक्षा ' की आवाज़ आने लगी। दीना सीता पुनः पुनः अपने शुद्ध चरित्र पर किये गये इस कठोर, अपमान-पूर्ण संदेह से इतनी आहत और कातर होगईं थीं, कि अब

यह उनके लिये असह्य होगया। वे अपनी पवित्रता की साक्ष्य देने के लिये कातर स्वर में देवगणों की प्रार्थना करने लगीं; और इसी समय पृथ्वी विभक्त होगई—सीता ने उच्च-स्वर में कहा—"यह लो मेरी परीक्षा"—और सदा के लिये उस विवर में प्रविष्ट हो गईं। पृथ्वी-तनया सीता सदा के लिये अपनी जननी की गोद में सोगई। इस दुःखान्त घटना से लोग अवसन्न होगये और राम शोक से मुह्य-मान हो गये।

सीता के अन्तर्धान के कुछ दिन पश्चात् देवताओं का एक दूत राम के पास आकर बोला, "प्रभु ! पृथ्वी पर आपका कार्य अब पूर्ण होगया है, इसलिये आप स्वधाम वैकुण्ठ पधारें।" यह संवाद सुन कर राम की निज-स्वरूपस्मृति जागृत होगई। अयोध्या की समीप-वर्तिनी सरिद्वरा सरयू के जल में देह-विसर्जन कर राम वैकुण्ठ में सीता से मिल गये।

यह है भारत का महान आदिकाव्य। राम और सीता भारतीय राष्ट्र के आदर्श हैं। सभी बालक-बालिकायें—विशेषतः कुमारियाँ सीता की पूजा करती हैं। भारतीय नारी की उच्चतम महत्वाकांक्षा यही होती है कि वह सीता के समान शुद्ध, पतिपरायण और सर्व-सहिष्णु—सर्वसहा बने। इन महान पुरुषों के चरित्र का अध्ययन करने पर आप को सहज ही प्रतीत होने लगता है कि भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में कितना महान अन्तर है। भारतीय राष्ट्र और समाज के लिये सीता सहिष्णुता के उच्चतम आदर्श के रूप में हैं। पश्चिम कहता है, "कर्म करो—कर्म द्वारा अपनी शक्ति

दिखाओ।" भारत कहता है, "सहिष्णुता द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ—दु:ख-कष्टों को सहन करना सीखो।" मनुष्य कितने अधिक भौतिक पदार्थों—विषयों का स्वामी बन सकता है, इस समस्या की पूर्ति पश्चिम ने की है। किन्तु मनुष्य में कितना त्याग करने की क्षमता है—इस प्रश्न का उत्तर भारत ने दिया है। आप देखते हैं—दोनों आदर्श ही परस्पर-विरोधी भावों की चरम-सीमा हैं। सीता भारतीय आदर्श—भारतीय भाव की प्रतिनिधि हैं—मूर्तिमती भारतमाता हैं। सीता वास्तव में जन्मी थीं या नहीं, रामायण की कथा किसी ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है या कपोल-कल्पित —इन प्रश्नों पर हमें विचार नहीं करना है। किन्तु कम से कम इतना तो सत्य है कि सहस्रों वर्षों से सीता का चरित्र भारतीय राष्ट्र का आदर्श रहा है। ऐसी अन्य कोई पौराणिक कथा नहीं है जिसने सीता के चरित्र की भाँति पूरे भारतीय राष्ट्र को आच्छादित और प्रभावित किया हो—उसके जीवन में इतनी गहराई तक प्रवेश किया हो—जाति की नस नस में, उसके रक्त की एक एक बूँद में इतनी प्रवाहित हुई हो। भारतवर्ष में जो कुछ पवित्र है, विशुद्ध है, जो कुछ पावन है उस सब का सीता शब्द से बोध होजाता है। नारी में जो नारीजनोचित गुण माने गये हैं—सीता शब्द उन सबका परिचायक है। इसीलिये जब ब्राह्मण किसी कुल-वधू को आशीर्वाद देते हैं तो कहते हैं—'सीता बनो।' जब किसी बालिका को आशीर्वाद देते हैं तो कहते हैं—'सीता बनो'। वे सब सीता की सन्तान हैं—जीवन में उनका एकमेव ध्येय, एकमेव प्रयत्न यही

होता है कि वे सीता बनें—सीता सी शुद्ध, धीर और सर्वंसहा, सीता सी पतिपरायणा और पतिव्रता बनें। जीवन में सीता ने इतने कष्ट सहे, इतनी वेदनायें सहीं—किन्तु राम के विरुद्ध उनके मुँह से एक कठोर शब्द तक न निकला, हृदय से एक आह तक न निकली। वह उसे अपना कर्तव्य जान कर सहती जाती हैं—अपने जीवन के करुण नाटक में धैर्यपूर्वक अभिनय करती रहती हैं। सीता का अरण्य-निर्वासन ! ज़रा सोचिये तो कि कितना घोर अन्यायपूर्ण, अविचारपूर्ण कार्य था यह ! पर सीता ने यह भी सह लिया—उनके हृदय में लेशमात्र भी कटुता उत्पन्न नहीं हुई। यह तितिक्षा ही भारतीय आदर्श है। भगवान बुद्ध ने कहा है, "यदि कोई तुम्हें आहत करता है, और तुम उसे प्रतिकार में आहत करने के लिये अपना हाथ उठाते हो—तो इससे तुम्हारे घाव को तो आराम नहीं होगा;—हाँ संसार के पापों में एक और पाप की वृद्धि अवश्य हो जायगी। सीता इस भारतीय आदर्श की सच्ची प्रतिनिधि हैं। अत्याचारों के प्रतिशोध का विचार तक उनके हृदय में नहीं आया।

कौन जानता है—इन दोनों आदर्शों में कौन सत्य और उच्च है—पाश्चात्यों की यह आपात-प्रतीयमान शक्ति और चमक-दमक या पौर्वात्यों की कष्ट-सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा ?

पश्चिम कहता है—"हम दुःखों का प्रतिकार कर अपनी शक्ति से उन्हें विजित कर उनका नाश करते हैं।" भारत कहता है, "हम भी दुःखों का नाश करते हैं, किन्तु उनके प्रतिकार

से नहीं—उन्हें सहन करने की क्षमता उत्पन्न करने से; और धीरे धीरे यही दु:ख और कष्ट हमारे लिये आनन्द की वस्तु बन जाते हैं। " शायद दोनों ही आदर्श महान हैं—पर कौन जानता है अन्ततोगत्वा कौन सा आदर्श जीवित रह सकेगा—किस आदर्श की जय होगी ? कौन जानता है किस आदर्श से मानवजाति का अधिकतर यथार्थ कल्याण सम्पादित होसकेगा ? किसे ज्ञात है कौन सा आदर्श मनुष्य की पाशविकता को निर्वीर्य कर उस पर विजय पा सकेगा ? सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा अथवा क्रियाशीलता, शक्ति एवं प्रतिकार ?

और इसलिये हमें परस्पर के आदर्श को नष्ट करने की ये घृणित चेष्टायें तो छोड़ देनी चाहिये। हम दोनों का लक्ष्य एक ही है—मानव-दु:ख-निवारण, दुखों का क्षय और नाश। मैं पश्चिम से यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम हमारा मार्ग अपनालो। कभी नहीं। लक्ष्य एक है—किन्तु साधन-मार्ग सदैव ही भिन्न रहेंगे। और इसलिये, भारतीयों के आदर्श तथा संस्कृति का यह ज्ञान प्राप्त करने पर, मुझे आशा है आप भारत को सम्बोधन कर कहेंगे, " हम जानते हैं—हम दोनों का ध्येय, आदर्श और लक्ष्य एक ही है, और लक्ष्य तक पहुँचने के हमारे मार्ग भी सामन रूप से उपयोगी हैं; इसलिये बन्धुओ, तुम अपने आदर्श का अनुसरण करो, अपने लक्ष्य पर चलो। तुम अपने साधन-पथ पर प्रस्थान करो—ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें। " इस जीवन में पूर्व और पश्चिम—दोनों को मेरा यही संदेश है कि विभिन्न आदर्शों पर वृथा विवाद न करो—

तुम्हारे आदर्श केवल भिन्न प्रतीयमान मात्र होते हैं——वास्तव में तो वे एक ही हैं। और इसलिये जीवन के इन ऊँचे-नीचे, टेढ़े-मेढ़े रास्तों, जीवन की इस चक्करदार भूल-भुलैया में मार्ग क्रमण करते हुए——परस्पर की मंगल कामना करते हुए——परस्पर का अभिवादन कर कहें, "ईश्वर तुम्हारी लक्ष्यसिद्धि में सहायक हो।"

२. महाभारत

(कैलिफोर्निया के अन्तर्गत पैसाडेना की 'शेक्सपियर सभा' में दिया हुआ भाषण—ता. १ फरवरी १९००)

जिस दूसरे महाकाव्य के सम्बन्ध में मैं आज आपके सम्मुख बोलने वाला हूँ, वह महाभारत है। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र राजा भरत के वंश का आख्यान वर्णित है। महान का अर्थ होता है बड़ा अर्थात् गौरवसम्पन्न और भारत का अर्थ है भरत के वंशज—वह भरत जिसके नाम से हमारे देश का नामकरण भारत हुआ है। इसलिये महा-भारत शब्द का अर्थ महान भारत देश, या भरत के महान वंशजों का आख्यान होता है। कुरुओं का प्राचीन राज्य ही इस महाकाव्य की रंगभूमि है, और कुरु-पाञ्चालों का महा संग्राम ही इस कथा की भित्ति है। अतएव युद्ध-प्रभावित क्षेत्र का विस्तार अधिक नहीं है। यह महाकाव्य भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय है, और भारतीय जीवन पर इसका उतना ही प्रभाव पड़ा है, जितना कि यूनान देश में होमर प्रणीत काव्य का। ज्यों ज्यों युगों ने करवटें बदलीं, मूल महाभारत के कलेवर में भी वृद्धि होती गई, और अन्त में उसके श्लोकों की संख्या एक लाख तक पहुँच गई। नानाविध आख्यायिका-उपाख्यान; पौराणिक गाथायें, दार्शनिक निबन्ध, इतिहास और विविध प्रकार के विविध विषयों पर विचार इत्यादि, समय समय पर उसमें इतने अधिक संयोजित कर दिये गये हैं कि आज यह एक विशाल प्रचण्ड-काय महाग्रन्थ बन गया है, परन्तु मूल कथा की रूपरेखा इन सब अवान्तर प्रसंगों में भी सुरक्षित रखी गई है।

महाभारत की मूल कथा का विषय है—भारत के विशाल साम्राज्य के आधिपत्य के लिये एक ही वंश की दो शाखाओं—कौरवों व पाण्डवों का युद्ध।

आर्यगण छोटे छोटे दल बनाकर भारत में आये। धीरे धीरे, आर्य-जाति की ये विभिन्न शाखायें समूचे देश में इतस्तत: फैलने लगीं, और वे यहाँ के एकमेव प्रतिद्वन्द्वी-विहीन शासक बन गये, और अन्त में एक ही वंश की दो शाखाओं में साम्राज्य-लाभ के लिये यह संघर्ष उठ खड़ा हुआ। आपमें से जिन्होंने गीता का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि उसका प्रारम्भ दो युद्धोद्यत सेनाओं द्वारा अधिकृत युद्धक्षेत्र के वर्णन से ही होता है। यही वह महाभारत का संग्राम है।

कुरुवंशीय महाराज विचित्रवीर्य के दो पुत्र थे, ज्येष्ठ धृतराष्ट्र और कनिष्ठ पाण्डु। धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे। भारतीय स्मृतिशास्त्र के विधानानुसार अंध, खञ्ज, विकलाङ्ग, क्षयी या अन्य किसी प्रकार स्थायी-व्याधि-युक्त व्यक्ति पैतृक धन का उत्तराधिकारी नहीं बन सकता, उसे केवल अपने निर्वाह-योग्य खर्च पाने का ही अधिकार है। इसलिये धृतराष्ट्र ज्येष्ठ होने पर भी सिंहासन प्राप्त न कर सके और पाण्डु ही सम्राट अभिषिक्त हुये। धृतराष्ट्र के सौ और पाण्डु के केवल पाँच पुत्र हुये। पाण्डु के यौवन-काल में ही स्वर्गवास के पश्चात् धृतराष्ट्र कुरुदेश के राजा बने, और उन्होंने अपने पुत्रों के साथ ही पाण्डु के पुत्रों का लालन-पालन किया। पुत्रगण जब वय:प्राप्त हुए तो महान धनुर्धारी विप्र द्रोणाचार्य को उनकी शिक्षा-दीक्षा का भार सौंपा गया। और क्षत्रियोचित अस्त्रविद्या व धर्म-शास्त्रों में वे

पारंगत होगये। राजपुत्रों की शिक्षा समाप्त होने पर धृतराष्ट्र ने पाण्डवों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर को युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। युधिष्ठिर की निष्ठा व सदाचार, तथा उनके भ्रातृवृन्द का शौर्य-वीर्य और ज्येष्ठ भ्राता के प्रति असीम भक्ति देखकर अन्धराजा के पुत्रों के हृदय में द्वेषाग्नि प्रज्वलित होगई, और उनमें से ज्येष्ठ दुर्योधन की कुटिलता व कौशल से पाँचों पाण्डु-पुत्रों को एक धर्म-महोत्सव में सम्मिलित होने के बहाने, वार्णावत नगर में आने के लिये छलपूर्वक राजी कर लिया गया। वहाँ दुर्योधन की आज्ञानुसार सन, लाख, तेल, घृत आदि प्रज्वलनशील द्रव्यों से निर्मित एक प्रासाद में उनके निवास की व्यवस्था की गई और कुछ दिनों बाद एक रात को उस जतुगृह को चुपचाप आग लगा दी गई। किन्तु धृतराष्ट्र के वैमात्रेय बन्धु धर्मात्मा विदुर को दुर्योधन व उसके अनुचारों के दुष्ट हेतु का पता लग गया और उन्होंने पाण्डवों को इस षड्यन्त्र से सावधान रहने की सूचना देदी। और वे आत्मारक्षार्थ चुपचाप उस जलते हुए गृह से निकल भागे। कौरवों ने लाक्षागृह को जलकर भस्म होते देख संतोष की साँस ली, और सोचने लगे कि इतने दिनों बाद अब मार्ग के सब कंटक दूर होगये। उन्होंने राज्य अपने हाथ में ले लिया। पाँचों पाण्डव अपनी जननी कुन्ती को साथ ले वन-वन भटकने लगे। वे भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करते, और अपने को ब्रह्मचारी, ब्राह्मण बताकर वेष बदले घूमते रहे। वन में उन्हें अनेकानेक कष्टों का सामना करना पड़ा; उन्होंने अनेक रोमाञ्चकारी साहसपूर्ण कृत्य किये। अपने साहस, शौर्य-वीर्य और धैर्य

से वे सब विघ्नों पर विजय पाते गये। इस प्रकार जीवन व्यतीत करते करते एक दिन उन्हें समीपवर्ती पाञ्चाल देश की राजकन्या के स्वयंवर की वार्ता ज्ञात हुई।

गत रात्रि मैंने इस स्वयंवर प्रथा का उल्लेख किया था। इन स्वयंवरों के अवसर पर विभिन्नदेशीय राजकुमारगण आमन्त्रित किये जाते थे और राजकन्या उनमें से किन्हीं एक को पुष्पमाला अर्पित कर अपना पति निर्वाचित कर लेती थी। अपने आगे आगे भाट और धारण लेकर, विवाहार्थी राजकुमारी हाथ में पुष्पमाला ले राजकुमार के समीप जाती और उन लोगों के मुख से उस राजकुमार की कुल-मर्यादा, रणकौशल आदि की प्रशंसा सुनती। फिर वह अपनी अभिलाषा, वह पुष्प-हार अर्पित कर प्रकट करती थी। इसके बाद वह समारोह विवाहोत्सव का रूप लेलेता था।

महाराज द्रुपद पाञ्चाल देश के प्रबल अधिपति थे, और उनकी कन्या द्रौपदी के लावण्य, गुण और शील की ख्याति देश-देशान्तर में फैली थी। उसी के स्वयंवर का संवाद पाण्डुपुत्रों को मिला।

स्वयंवर में सदैव कोई न कोई प्रण रखा जाता था। किसी विशेष प्रकार के अस्त्र-कौशल और शौर्य-प्रदर्शन की शर्त रखी जाती थी और उद्वहनाभिलाषी कुमार को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी पड़ती थी। इस अवसर पर एक अत्युच्च स्थान पर एक कृत्रिम मत्स्य लक्ष्य के रूप में लटकाया गया; मत्स्य के नीचे एक सतत गतिमान चक्र था, जिसके केन्द्र में एक छिद्र था, और उसके नीचे भूमि पर

एक जलपात्र रखा गया। अब जलपात्र में मत्स्य का प्रतिबिम्ब देख गतिमान चक्र के मध्य-छिद्र में से तीर छोड़कर मत्स्य के चक्षु विद्ध करने में जो सफल होगा—उसीसे द्रुपद-सुता का विवाह करने की पाञ्चालराज ने प्रतिज्ञा की थी। राजकुमारी से विवाह कामना करने-वाले एकत्र राजपुत्रगण प्राणपण से लक्ष्य-वेध करने का प्रयत्न करने लगे, किन्तु कोई सफल न हुआ।

भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था प्रचलित है; कुल-पुरोहित अर्थात् ब्राह्मणों का वर्ण श्रेष्ठ माना जाता है, उनके नीचे क्रम से क्षत्रियों—राजाओं और योद्धाओं, वैश्यों—वाणिज्य-व्यवसाय का अवलम्बन करने वालों, और शूद्रों या सेवकों की जातियाँ हैं। यह स्पष्ट ही है कि राजकुमारी द्रौपदी, द्वितीय वर्ण अर्थात् क्षत्रिय कुल में जन्म पाई थीं।

जब सब राजकुमार लक्ष्य वेधने में असफल होगये, तो महाराज द्रुपद क्षुब्ध हो सभामण्डप में खड़े होगये और बोले, "क्षत्रिय कुमार मेरा प्रण पूर्ण न कर सके, अब अन्य जातियों के कुमार प्रति-स्पर्धा में सम्मिलित हो सकते हैं। ब्राह्मण कुमार हो, या वैश्य अथवा शूद्र कुलोत्पन्न हो—जो लक्ष्य वेध कर देगा वही द्रौपदी का स्वामी होगा।"

पाँचों पाण्डव भी ब्राह्मणों में बैठे हुये थे। अर्जुन धनुर्विद्या में पारंगत था। वह उठ कर आगे बढ़ा। स्वभावतया ब्राह्मण शान्त और नम्रस्वभाव होते हैं। शास्त्रों के आदेशानुसार उनके लिये शस्त्र चलाना और साहसपूर्ण कृत्य करना निषिद्ध है। उनका सारा जीवन चिन्तन और अध्ययन, ध्यान-धारणा तथा संयम और इन्द्रिय-निग्रह में व्यतीत होता है। इससे सहज ही अनुमान किया

जा सकता है कि वे कितने संयत, नम्र और शान्त होते हैं। जब उन्होंने अर्जुन को उठते देखा, तो उन्हें भय लगा कि उनके इस कार्य से वे सब क्षत्रियों के क्रोधानल में नष्ट होजायेंगे। इसलिये उन्होंने अर्जुन को अपने इस निश्चय से विचलित करने का प्रयत्न किया। किन्तु अर्जुन योद्धा था, उसने उनकी एक न सुनी। उसने धनुष हाथ में उठाया, सहज ही में उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ाली, और चक्र के बीच में से तीर छोड़कर ठीक मत्स्य की आँख पर निशाना लगा दिया।

अब तो चारों ओर हर्ष-सरिता उमड़ पड़ी। राजनन्दिनी द्रौपदी ने विजयी धनुर्धारी के समीप आ, उसके वक्ष को उस सुन्दर पुष्प-माला से अलंकृत कर दिया। किन्तु उपस्थित क्षत्रिय कुमारों की सभा में एक तुमुल कोलाहल मच गया। वे यह नहीं सहन कर सके कि एक दरिद्र ब्राह्मण उनके सामने विजयी होकर एक क्षत्रिय राजकुमारी से पाणिग्रहण करले। वे अर्जुन से युद्ध कर बलपूर्वक द्रौपदी को छीन लेना चाहते थे। पाँचों भाइयों ने सकल राजपुत्र-वृन्द से घमसान युद्ध किया और विजयनाद करते हुए नव-वधू को घर लेआये।

ब्राह्मण भिक्षा-वृत्ति द्वारा निर्वाह करते हैं। ब्राह्मण के वेष में निवास करनेवाले पाण्डव भी घर से निकल भिक्षाटन द्वारा जो प्राप्त कर लाते, उसे माता कुन्ती के सुपुर्द कर देते, और वही उसका विभाजन करतीं।

पाँचों भाई राजकुमारी को साथ ले माता कुन्ती के पास कुटि पर लौट आये। वे हर्षोत्फुल्ल हो उसे पुकारने लगे, "माताजी, माताजी, आज हम एक अद्भुत भिक्षा घर लाये हैं।" माँ भीतर

से ही बोलीं, "वत्स, पाँचों मिलकर उसका उपभोग करो।" जब कुन्ती ने राजकुमारी को देखा तो घबराकर बोलीं, "अरे यह क्या, मैंने यह क्या कह दिया? यह तो एक कन्या है।" किन्तु अब क्या हो सकता था? जो कुछ माँ ने कह दिया, वह असत्य नहीं हो सकता था। माँ की आज्ञा थी—उसका पालन करना पुत्रों का धर्म था। उसने अब तक मिथ्या भाषण नहीं किया था, इसलिये उसके ये शब्द कैसे मिथ्या किये जा सकते थे? इसलिये द्रौपदी पाँचों भाइयों की पत्नी बनकर रहीं।

यह आपको भली-भाँति ज्ञात है कि हरएक जाति के विकास का एक इतिहास होता है और उसमें भिन्न भिन्न अवस्थायें होती हैं। इस महाग्रंथ की पार्श्व-भूमि में हमें उस अतीत की—अति पुरातन काल की एक झलक दीखती है। इस महान् काव्य के लेखक ने पाँचों भाइयों का एक ही स्त्री से पाणिग्रहण होने की घटना का तो उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु उस पर एक पर्दा डालना चाहा है, उसके लिये एक बहाना—एक कारण खोजने का प्रयत्न किया है। वह कहता है—यह माँ की आज्ञा थी, जो पुत्रों को शिरोधार्य करनी पड़ी; इस विचित्र विवाह के लिये माँ की सम्मति प्राप्त थी, इत्यादि। किन्तु आप जानते हैं—हरएक राष्ट्र के विकास-क्रम में एक ऐसी अवस्था अवश्य रही है जिसमें बहु-भर्तृत्व को मान्यता प्रदान की गई थी, जब एक ही परिवार के सब भ्रातृगण मिलकर एक ही स्त्री के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। यह घटना उसी बहु-भर्तृत्व-युग की एक झलक है।

इधर, राजकन्या का सहोदर भ्राता अत्यन्त व्यग्र और चिन्तित रहा था। उसने सोचा, "ये व्यक्ति कौन हैं, मेरी सहोदरा भगिनी से विवाह-सूत्र में बद्ध होने वाला यह पुरुष किस जाति का है? उनके पास न रथ है, न घोड़े हैं, न और कुछ। उनके पास कोई वाहन भी नहीं है, वे सब पैदल ही यात्रा करते हैं।" यही सब जानने के लिये वह दूर से उनका पीछा करने लगा, और रात को उनका वार्तालाप सुनकर उसे पूर्ण विश्वास होगया कि वे क्षत्रिय ही हैं। जब महाराज द्रुपद को यह ज्ञात हुआ तो वे अत्यधिक प्रसन्न हुए।

पहले इस विवाह का घोर विरोध हुआ, परन्तु महर्षि व्यास ने यह स्पष्ट कर दिया कि ये राजकुमार इस प्रकार विवाह कर सकते हैं। महाराज द्रुपद को इस विवाह से सम्मत होना पड़ा, और द्रौपदी पाँचों भाइयों के साथ विवाहित जीवन व्यतीत करने लगीं।

अब पाण्डव विघ्न-बाधारहित, शान्त और सुखी जीवन व्यतीत करने लगे, उनकी शक्ति भी उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होती रही। दुर्योधन और उसके अनुचर उनका अन्त करने के लिये फिर कई प्रकार के षड्यंत्र रचने लगे, किन्तु गुरुजनों की नेक और नीति-पूर्ण सलाह शिरोधार्य कर महाराज धृतराष्ट्र को उनसे सुलह करने के लिये बाध्य होना पड़ा। पुरजनों की तुमुल हर्षध्वनि के बीच महाराज धृतराष्ट्र ने उन्हें सादर राज्य का आधा हिस्सा प्रदान करदिया। पाँचों पाण्डवों ने अपनी राजधानी बसाने के लिये इन्द्रप्रस्थ नामक एक सुन्दर नगर का निर्माण किया, और चारों ओर के माण्डलिकों

को अपने आधीन कर अपने राज्य का विस्तार कर लिया। ज्येष्ठ बन्धु, महाराज युधिष्ठिर ने स्वयं को प्राचीन भारत के सभी राजाओं का सम्राट घोषित करने के लिये राजसूय यज्ञ के आयोजन का निश्चय किया। इस प्रकार के यज्ञ में सभी पराजित राजाओं को यज्ञ-भूमि में नज़राने लेकर आना पड़ता था, और फिर वे राज-भक्ति की शपथ ग्रहण कर, यज्ञ पूर्ण करने में सहयोग देते थे। श्रीकृष्ण भी इस समय तक उनके कुटुम्बी और मित्र बन चुके थे। उन्होंने आकर इस निश्चय की प्रशंसा की। किन्तु यज्ञ-पूर्ति में केवल एक ही बाधा थी। जरासन्ध नामक एक राजा ने एक यज्ञ में सौ राजाओं की आहुति प्रदान करने के हेतु से, ८६ राजाओं को अपने कारागर में बन्द करलिया था। श्रीकृष्ण ने जरासंध पर चढ़ाई करने की सलाह दी। कृष्ण, भीम और अर्जुन ने जाकर उसे युद्ध के लिये ललकारा। उनका आह्वान स्वीकृत कर उसने भीम के साथ मल्लयुद्ध किया और चौदह दिन के अनवरत युद्ध के बाद उससे पराजित होगया। इस प्रकार वे राजागण कारा-मुक्त करादिये गये।

अब चारों भाई अपनी विजय-वाहिनी लेकर चारों दिशाओं में अपनी विजय-पताका फहराने निकले। सभी राजाओं ने महाराज युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार करली। लौटकर उन्होंने, युद्धार्जित विपुल-धन-राशि, यज्ञ में व्यय करने के लिये ज्येष्ठ बन्धु के चरणों में रखदी।

कारा-मुक्त राजाओं सहित भ्राताओं द्वारा विजित सभी नृपगण राजसूय यज्ञ में सम्मिलित हुए और उन्होंने महाराज युधिष्ठिर का

सम्राटोचित सम्मान किया। महाराज धृतराष्ट्र और उनके पुत्रगण भी इस समारोह में आमन्त्रित किये गये थे। यज्ञ समाप्त होने पर, महाराज युधिष्ठिर सम्राट पद पर अभिषिक्त हुए, और वे चक्रवर्ती घोषित किये गये। इसीसे महान भावी संग्राम का बीजारोपण हुआ। दुर्योधन का हृदय महाराज युधिष्ठिर के असीम ऐश्वर्य, वैभव, सत्ता और अनन्त धनराशि को देखकर क्रोध व ईर्ष्या से जल भुन गया। वह ईर्ष्यावश होकर अपनी कुटिलता और कौशल से पाँचों पाण्डवों के सर्वनाश की कामना करने लगा, क्योंकि शक्ति और बाहुबल से उन्हें जीतना उसके सामर्थ्य के बाहर था। राजा युधिष्ठिर को द्यूत-क्रीड़ा प्रिय थी, और कुसमय पर उन्हें दुर्योधन के कुयंत्रणदाता व छद्मपूर्ण और कुटिल द्यूत-विद्या-विशारद शकुनि से खेलने का आह्वान किया गया। प्राचीन भारत में जब कभी किसी क्षत्रिय को युद्ध की चुनौती दीजाती थी, वे अपनी मान-रक्षार्थ सब क्षति सहकर, स्वीकार करनी पड़ती थी। और यदि द्यूत-क्रीड़ा का आह्वान मिलता तो उसे स्वीकार करलेना ही गौरवरक्षा का एकमेव मार्ग था—और उसे अस्वीकृत करना उपहास का पात्र बनना था। महाभारत में महाराज युधिष्ठिर को धर्मराज तथा सब सद्गुणों की प्रतिमा कहा गया है। परन्तु पूर्वोक्त कारण से राजर्षि होते हुए भी उन्हें उस चुनौती का स्वीकार करना पड़ा। शकुनि और उसके साथियों ने नकली पाँशे बनाये। युधिष्ठिर दाँव पर दाँव हारते गये, और क्षुब्ध, अधीर व दैवप्रेरित होकर वे खेलते ही गये और धीरे धीरे अपनी सारी सम्पत्ति और राजपाट को दाँव पर लगाकर हार गये। अब खेल के समाप्त होते

होते, प्रतिस्पर्धी के पुनराह्वान से उत्तेजित होकर, उन्होंने और कुछ पास न बचने पर, बारी बारी से पहले चारों भाइयों को, फिर खुद को और अन्त में अनिन्दित द्रौपदी को भी दाँव पर लगा दिया—और उन्हें हार गये। इस प्रकार कौरवों के कुटिल चक्र में फँस कर वे पूर्णतया उनके वशीभूत होगये, वे अत्यन्त अपमानित किये गये और द्रौपदी के साथ भी कौरवों ने अमानुषिक दुर्व्यवहार किया। अन्धराजा के बचाव करने से ही वे अपनी खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्त कर सके, और उन्हें अपनी राजधानी में लौटकर फिर से शासन-सूत्र ग्रहण करने की अनुमति मिली। दुर्योधन ने देखा यह तो बड़ी विपदा आपड़ी, और वृद्ध पिता को बाध्यकर एक दाँव और खेल लेने की अनुमति माँगली, और यह निश्चित हुआ कि इसमें जो हारेंगे वे द्वादश वर्ष पर्यन्त वनवास स्वीकार करेंगे, और एक वर्ष तक किसी शहर में अज्ञात-वास करेंगे; किन्तु यदि इस अन्तिम वर्ष में उनके निवास-स्थान आदि का पता विजयी पक्ष को लग गया, तो विजित पक्ष को पुनः द्वादश वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास अंगीकार करना पड़ेगा और केवल इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् ही उन्हें राज्य लौटाया जायगा।

विधिवशात् युधिष्ठिर यह भी बाजी हारगये, और पाँचों पाण्डवों ने द्रौपदी को साथ ले, निर्वासित गृहविहीन व्यक्तियों के समान वन का आश्रय लिया। बारह वर्ष तक वे गहन अरण्यों और गिरि-गह्वरों में वास करते रहे। उन्होंने इस अर्से में कई धर्म-पूर्ण व वीरोचित कृत्य किये, और दीर्घकाल तक तीर्थ-भ्रमण कर पवित्र क्षेत्रों का दर्शन करते रहे।

महाभारत का यह अंश वनपर्व अत्यन्त मनोहारी व शिक्षाप्रद है और कितनी ही घटनाओं, आख्यायिकाओं व उपाख्यानों से परिपूर्ण है। इसमें प्राचीन भारत के धर्म और दर्शन सम्बन्धी अनेक उदात्त और सुन्दर कथाओं का संग्रह है। अनेक महर्षिगण पाँचों भाइयों को उनके दुःख और विपत्ति में सान्त्वना देने के लिये आते थे और इस दुःख के भार व वन के कष्टों को वे सरलता से सहन कर सकें इसलिये उन्हें प्राचीन भारत की अपूर्व कथायें सुनाते थे। मैं यहाँ उनमें से केवल एक ही कहानी कहूँगा।

अश्वपति नामक एक राजा थे। उनकी कन्या इतनी सुन्दर और सुशील थी, कि उसका नाम ही सावित्री पड़ गया—सावित्री जो कि हिन्दुओं के एक अति पावन स्तोत्र का नाम है। युवति होने पर, सावित्री के पिता ने उसे अपना पति निर्वाचित करने के लिये कहा। प्राचीन भारतीय महिलायें जैसा आपने देखा है—अत्यन्त स्वतंत्र थीं, और अपना भावी जीवन-साथी स्वयं चुनती थीं।

सावित्री ने पिता की प्रार्थना स्वीकृत करली और वह एक स्वर्णखचित रथ पर आरूढ़ हो, पिता द्वारा साथ दिये गये अनुचरों और वृद्ध मंत्रियों सहित, विभिन्न राजदरबारों में जा जा, कई राजकुमारों से भेंट करती रही, किन्तु उनमें से कोई भी उसका हृदय आकर्षित न कर सका। अन्त में वे लोग तपोवन-स्थित एक पवित्र मुनि-कुटीर में आये। प्राचीन भारत में ऐसे कई वन पशु-पक्षियों के लिये सुरक्षित रख दिये जाते थे, और वहाँ पशु-हिंसा निषिद्ध रहती थी ये वनचर प्राणी सभी प्रकार से भयरहित होजाते थे, यहाँ तक

कि जलाशयों में मछलियाँ भी मनुष्य की हथेली से खाद्यान्न ग्रहण करलेती थीं। हजारों वर्षों से वहाँ पर किसी ने उन्हें सताया या मारा नहीं था। वहीं सन्त और वृद्ध जाकर मृगों और विहङ्गमों के बीच रहते थे। अपराधियों को भी वहाँ कोई भीति नहीं थी। जब मनुष्य जीवन से थक जाता, तो वह तपोवन में चला जाता, और संत समागम कर, धर्म-चर्चा और ध्यान-जप में अपना शेष जीवन व्यतीत करता।

द्युमत्सेन नामक एक नृपति को उसकी वृद्धावस्था में शत्रुओं ने पराजित कर, उसका राज-पाट छीन लिया था। बेचारा राजा इस अवस्था में अपनी आँखें भी खो बैठा। मायूस और बेबस हो, इस वृद्ध, अन्ध राजा ने अपनी रानी और पुत्र को साथ ले जंगल में शरण ली, और कठोर व्रतोपवास में अपना जीवन बिताने लगा। उसके पुत्र का नाम सत्यवान था।

दैवयोग से सावित्री सारी राजसभाओं में जाने के बाद इसी तपोवन में आगई। प्राचीन काल में तपोवननिवासी ऋषियों और महात्माओं के लिये जन-मन में इतनी श्रद्धा थी कि महान से महान राजा भी बिना महर्षियों के चरणों में प्रणिपात किये और आशीर्वाद लिये उस ओर से नहीं निकलता था। भारत में एक चक्रवर्ती सम्राट भी, कन्द-मूल-फल खाकर, वल्कल धारण कर, किसी वन के एक कोने में स्थित छोटी सी कुटिया में रहने वाले किसी ऋषि से अपने वंश का जन्म मानने में हर्ष और गौरव प्रतीत करता है। हम सब ऋषियों की सन्तान हैं। धर्म का इतना सम्मान और कहाँ हुआ है? यहाँ राजा भी तपोवन से गुजरते समय ऋषियों के चरणों में मस्तक

झुकाने को अपना सौभाग्य समझते आये हैं। वे यदि अश्वारोहित रहते हैं, तो नीचे उतरकर आश्रम की ओर नंगे पैर जाने लगते हैं। यदि किसी रथ में वे रहते हैं, तो तपोवन में प्रवेश करते समय रथ और शस्त्रास्त्र पीछे ही छूट जाते हैं। कोई भी क्षत्रिय योद्धा उन पवित्र आश्रमों में केवल शान्तिप्रिय, नम्र और धर्मपरायण नागरिक की भाँति ही जासकता है—अन्यथा नहीं।

सावित्री ने कुटी में आकर राजतपस्वी सत्यवान के दर्शन किये, और मन ही मन उसे अपना हृदयेश बनाने का संकल्प करलिया। राजसभाओं और राजप्रासादों के निवासी राजकुमार जिस सावित्री का मन मोहित न कर सके, उसी का हृदय आज वनवासी द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान ने चुरा लिया।

सावित्री लौट कर पितृगृह आगई। पिता ने पूछा, "वत्से, बोलो, क्या कोई राजकुमार दिखा जिससे तुम विवाह करना चाहोगी?" लज्जा से रक्तकपोल हो सावित्री विनयपूर्वक बोली, "हाँ, पिताजी।"

"तो, उस राजकुमार का क्या नाम है?" "वे युवराज नहीं हैं,—राजा द्युमत्सेन के पुत्र हैं जो अपना राज्य खो चुके हैं। वे एक राजपुत्र हैं, जो राज्य-विहीन हैं, और आश्रम में, कंद-मूल फल संग्रह कर, वन-वासी, मातापिताओं के साथ संन्यासियों का जीवन व्यतीत करते हैं।"

दैव-योग से महर्षि नारद भी उस समय वहीं उपस्थित थे। इसलिये राजा ने उनकी इस विषय पर सलाह ली। महर्षि ने

बताया कि यह निर्वाचन अत्यन्त अशुभ और अनिष्टकारक होगा। राजा ने महर्षि से इसका कारण बताने का अनुरोध किया।

महर्षि नारद बोले, "राजन्, आज से एक साल में सत्यवान कालकवलित होजायगा।" राजा इस अनिष्ट की आशंका से भयग्रस्त हो सावित्री से बोले, "बेटी, सत्यवान का एक वर्ष में ही देहावसान हो जायगा और तुम्हें वैधव्य की दारुण यातनायें सहनी पड़ेंगी। ज़रा विचार करो पुत्री, और अपना निश्चय त्याग दो। इस प्रकार के अल्पायु और आसन्नमृत्यु वर से तुम्हारा विवाह किसी हालत में न होगा।" इस पर सावित्री ने उत्तर दिया, "कोई परवाह नहीं, पिताजी! आप मुझसे किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह-बद्ध हो अपना मानसिक पावित्र्य नष्ट करने का आग्रह न कीजिये। मैं साहसी और धर्मपरायण सत्यवान को प्रेम करती हूँ, और उसे अपने मन ही मन वरण कर चुकी हूँ। आर्य-कन्याओं का विवाह जीवन में एक ही बार होता है और वे कभी संकल्प-च्युत नहीं होतीं।" जब राजा अश्वपति ने देखा कि सावित्री अपने निश्चय पर अटल है, तो उन्हें बाध्य होकर सहमत होना पड़ा। सावित्री और सत्यवान विवाह-ग्रंथि में बँध गये; और वह अपने पति के साथ रह कर, उसके माता-पिता की सेवा करने, राज-महल को छोड़कर वन में चली गई।

सावित्री को अपने पति की मृत्यु की तिथि ज्ञात थी, पर उसने कभी भी उससे इसकी चर्चा न की। रोज वह गहन अरण्य में प्रवेश कर, फल-फूल संग्रह करता, ईंधन के लिये लकड़ी के बोझ

बाँधता और कुटी पर लौट आता; वह भी भोजन बनाती, और वृद्ध दम्पति की सेवा में रत रहती। इस प्रकार उनकी जीवन-धारा शान्त गति से बहती रही, और धीरे धीरे वह दुर्दिन समीप आगया। जब केवल तीन ही दिन शेष रहे, तो सावित्री ने तीन रात्रियों का कठोर व्रतोपवास धारण कर लिया और वह निमिष-मात्र भी नहीं सोई। रात भर उसकी आँखों में नींद न थी, उसका हृदय रो रहा था, और आर्तस्वर में वह प्रभु की आराधना करती रही, पर उस भयकारक दिवस का प्रभात आ ही पहुँचा। उस रोज एक क्षण भी सावित्री ने सत्यवान को अपनी आँखों के ओट नहीं होने दिया। जब वह ईंधन लाने बाहर जाने लगा, तो वह भी माता-पिता से अनुमति की याचना कर उसके साथ साथ गई। अचानक लड़खड़ाते स्वर में सत्यवान ने मूर्छित होते हुये उसे कहा, "प्रिये, मुझे चक्कर आरहा है, मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ अवसन्न होरही हैं; मेरी सारी देह निद्राभिभूत होरही है, मुझे अपने समीप थोड़ा सा आराम करने दो।" भयाक्रान्त हो कम्पित स्वर में सावित्री बोली, "मेरे जीवन-धन, अपना सिर मेरी गोद में रखकर विश्राम कीजिये।" सत्यवान ने अपना ताप-तप्त शरीर अपनी पत्नी की गोद में रखा, और एक दीर्घ श्वास लेते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। सावित्री ने उसके शव को हृदय से लगा लिया, और अश्रुपूर्ण नयनों से वह उस निर्जन वन में अकेली बैठी रही।

अब यमदूत सत्यवान की आत्मा को लेजाने वहाँ आये—पर वे उस स्थान पर नहीं जासके, जहाँ सावित्री अपने मृत पति को

गोद में ले विलाप कर रही थी। उसके चारों ओर एक अग्नि-वृत्त सा था, जिसे पार करने की उनमें क्षमता नहीं थी। वे सब वहाँ से भाग खड़े हुये, और मृत्यु-राज यम को सत्यवान की आत्मा लाने में असमर्थ होने का कारण बताने लगे।

तब मृतात्माओं के न्याय-कर्ता, स्वयं मृत्युराज यम उस स्थल पर आये। भारतीयों का विश्वास है कि यम आदि-मृतक अर्थात् इस पृथ्वी पर मृत्यु-प्राप्त सर्व-प्रथम व्यक्ति हैं। वे ही सब मर्त्य-प्राणियों के अधिपति-पद पर आसीन होगए हैं। वे इस बात पर विचार करते हैं कि मरणोत्तर जीवन में किस व्यक्ति को क्या दण्ड और पारितोषिक दिया जाय। यम देवता हैं इसलिये वे सरलता पूर्वक उस अग्नि-चक्र के भीतर प्रवेश करगये। सावित्री के समीप आ, वे बोले, "पुत्री, इस मृत-देह को छोड़ दो। तुम तो जानती ही हो, सभी प्राणी मृत्यु-शील हैं। मैं स्वयं आदि-मृतक हूँ और तबसे सभी प्राणियों को काल-कवलित होना पड़ता है। मानव के लिये मृत्यु ही विधि-विधान है।" यह सुनकर सावित्री कुछ दूर हट गई और यमराज सत्यवान की आत्मा लेकर अपने लोक की ओर जाने लगे। वे थोड़ी ही दूर गये थे कि उन्हें शुष्क पर्ण-राशि पर किसी की चरण-ध्वनि सुनाई दी। पीछे घूमकर उन्होंने देखा—सावित्री उनके पीछे आरही थी। उन्होंने कहा, "पुत्री, तुम क्यों व्यर्थ मेरे पीछे पीछे आरही हो? सभी देहधारियों को देहत्याग करना पड़ता है, मृत्यु ही मानव की नियति है।" सावित्री बोली, "पिताजी, मैं आपका अनुसरण कहाँ कर रही हूँ? यह तो नारी का अदृष्ट ही है

कि जिस ओर उसका प्रिय पति जायगा, वह भी उसी ओर अनुगमन करेगी; और यह सनातन नियम है कि पतिव्रता स्त्री और पत्नीव्रत पति में कभी वियोग नहीं होता।" तब मृत्युदेवता प्रसन्न हो बोले, "पुत्री, अपने पति के जीवन के अतिरिक्त मुझसे कोई भी वर माँग लो।" सावित्री बोली, "यदि आपकी इतनी कृपा है तो हे मृत्युदेव, मेरे श्वसुर दृष्टि-लाभ पा सुखी रहें।" "तथास्तु, पुत्री" कहकर यम-राज सत्यवान की आत्मा लिये मार्ग-क्रमण करने लगे। उन्हें फिर पीछे वैसी ही पद-ध्वनि सुनाई दी। पीछे घूमकर वे बोले, "पुत्री, तुम अब भी मेरा पीछा कर रही हो?" "हाँ पितृवर," सावित्री बोली, "मैं बरबस पीछे पीछे खिंची चली आरही हूँ। मैं अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर लौट जाने का प्रयत्न कर रही हूँ, किन्तु मेरा मन मेरे पति के पीछे जारहा है और शरीर उसका अनुकरण कर रहा है। मेरी आत्मा तो पहिले ही चली गई है, क्योंकि मेरे स्वामी की आत्मा में मेरी भी आत्मा अवस्थित है; और जहाँ आत्मा जायगी वहीं शरीर भी जायगा—यही नियति है।" इस पर यम बोले, "सावित्री, मैं तुम्हारी वाणी से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अपने स्वामी का जीवन-दान छोड़कर तुम पुनः एक वर माँगो।" सावित्री बोली, "पिताजी, यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरे श्वसुर को अपना हारा हुआ राज्य वापस मिल जाय।" यम बोले, "वत्से यह वर मैं तुम्हें देता हूँ—और अब तुम घर लौट जाओ—क्योंकि देहधारी यम-राज के साथ नहीं चल सकते।" यम फिर चलने लगे—किन्तु शीलवती और पतिपरायणा सावित्री ने अब भी अपने मृत पति के

पीछे चलना नहीं छोड़ा । यम ने फिर पीछे फिरकर उससे कहा, " हे मनस्विनी, हे सावित्री, इस प्रकार शोकाकुल हो पीछे पीछे मत आओ । " सावित्री बोली, " मैं विवश हूँ—जिधर आप मेरे हृदय-धन को लेजायेंगे उस ओर जाने के सिवाय मेरे पास कोई चारा ही नहीं है । " " तब सावित्री, यदि तेरा पति पापात्मा रहता और नरक-गामी होता तो क्या तू भी उसके साथ नरक-वास करती ? " सावित्री बोली, " नरक हो या स्वर्ग, मृत्यु हो या जीवन—जहाँ मेरे स्वामी रहेंगे वहाँ जाने में मुझे प्रसन्नता ही होगी । " यम बोले, " वत्से, तुम्हारी वचनावली अत्यन्त मनोहर और धर्म-संगत है । मैं तुम्हारे शब्दों से अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम मुझसे एक वर और माँग लो—किन्तु ध्यान रखो, मृत को जीवन-दान नहीं मिला करता । " यदि प्रभु की अनुमति है तो मुझे वर दें कि मेरे श्वसुर का वंश नष्ट न होने पाये और इस राज्य पर सत्यवान का उत्तराधिकार सत्यवान के पुत्रों को प्राप्त हो । "

यमराज मुस्कराये और बोले, " पुत्री, तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी । यह लो सत्यवान की आत्मा—मैं उसे पुनर्जीवन प्रदान करता हूँ । सत्यवान के और तुम्हारे पुत्र ही राज्य-शासन करेंगे । अब घर लौट जाओ । आज प्रेम ने मृत्यु पर विजय पाली है । नारीरत्न, तुम्हारा प्रेम अप्रतिम है और तुमने यह सिद्ध करदिया कि मैं—मृत्युदेवता—भी शुद्ध, अपरिवर्तनशील प्रेम की शक्ति के सामने निर्बल हूँ । "

यही सावित्री की कथा है और हरएक भारत-कन्या की यह

आकांक्षा रहती है कि वह उस सावित्री के समान बने--जिसके प्रेम ने मृत्यु पर भी विजय पाली, जिसने अपने सर्व-विजयी प्रेम द्वारा मृत्युदेवता यम के पाश से भी अपने हृदयेश की आत्मा का छुटकारा करवा लिया।

महाभारत ऐसी शत शत सुन्दर कथाओं से भरा पड़ा है। मैंने प्रारम्भ में ही यह कह दिया था कि महाभारत का स्थान विश्व की श्रेष्ठतम पुस्तकों में है, और उसमें १८ पर्व तथा प्राय: एक लाख श्लोक हैं। महाभारत की मूलकथा हम पाण्डवों के वनवास तक कह चुके हैं। वनवास में भी दुर्योधन ने पाण्डवों का पीछा नहीं छोड़ा किन्तु उसका एक भी कुचक्र सफल नहीं हुआ।

अब मैं उनके वनवास के जविन की एक कथा कहूँगा। एक दिन पाँचों भाइयों को जंगल में प्यास लगी। युधिष्ठिर ने अपने भाई नकुल को पानी लाने की आज्ञा दी। वह किसी जलाशय की खोज में निकल पड़ा और शीघ्र ही एक स्वच्छ झील के समीप पहुँच गया। वह पानी को अपने अधरों से स्पर्श करने ही वाला था कि उसे यह ध्वनि सुनाई दी, "वत्स, ठहरो। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो और फिर पानी पीना।" किन्तु नकुल अत्यन्त तृषाकुल था। उसने इन शब्दों की अवज्ञा कर पानी पी लिया और पीते ही वह मृत हो जमीन पर गिर पड़ा। जब नकुल बहुत देर तक नहीं लौटा तो राजा युधिष्ठिर ने सहदेव को उसे खोजने और लौटते समय पानी लेते आने का आदेश दिया। सहदेव भी वहीं पहुँचा और भाई की मृत देह देख कर शोक विह्वल तथा प्यास से व्याकुल हो वह

जल के समीप गया। उसने भी वैसी ही ध्वनि सुनी, "हे वत्स, ठहरो। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, और फिर पानी पीना।" उसने भी इन शब्दों की अवहेलना की और अपनी प्यास बुझाकर भूमि पर गिर पड़ा। इसके पश्चात् क्रमशः अर्जुन और भीम इसी खोज में भेजे गये, पर वे भी अपनी प्यास बुझाने के प्रयत्न में धराशायी होगये। जब कोई भी लौटता नहीं दिखा तो युधिष्ठिर स्वयं अपने भाइयों की खोज में जाने को उठ खड़े हुये। अन्त में उस मनोहर सरोवर के समीप आ उन्होंने अपने चारों बन्धु भूमि पर मरे हुये पाये। यह दृश्य देख उनका हृदय शोक-प्लावित होगया और वे करुण रुदन करने लगे। अचानक उन्होंने उसी ध्वनि को फिर से कहते हुए सुना, "वत्स, अधीर होकर मूर्खता मत कर बैठना। मैं एक यक्ष हूँ और सारस के रूप में छोटी मछलियों पर निर्वाह करता हूँ। मेरे ही कारण तुम्हारे बन्धुगण यमलोक पहुँचे हैं। हे राजन्, यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर न दोगे तो तुम्हारी भी मृत्यु अवश्यम्भावी है। कुन्तिपुत्र, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करो, फिर तुम यथेच्छ जल पीओ और अपने साथ लेजाओ।" युधिष्ठिर बोले, "मैं अपनी बुद्धि के अनुसार आपके प्रश्नों का उत्तर प्रदान करूँगा। आप पूछिये।" फिर यक्ष ने उनसे कई प्रश्न पूछे जिनके उन्होंने सन्तोषप्रद उत्तर दिये। उनमें से एक प्रश्न था, "किमाश्चर्यं?" अर्थात् विश्व में अत्यधिक आश्चर्यकारक वस्तु क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया,

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यम-मन्दिरं।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम्॥"

अर्थात् प्रतिक्षण हम प्राणियों को कालकवलित होते देखते हैं, फिर भी जो जीवित हैं वे सोचते हैं कि वे कभी नहीं मरेंगे। यही संसार में सर्वाधिक आश्चर्यकारक वस्तु है। मृत्यु के सामने खड़े रहने पर भी, किसी को भी यह विश्वास नहीं है कि वह मर जायगा।"

यक्ष ने एक यह भी प्रश्न पूछा था, "कः पन्थाः" अर्थात् वह कौनसा मार्ग है जिसका अनुसरण करने से मानव का यथार्थ कल्याण होगा?" महाराज युधिष्ठिर बोले,

"तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्ना
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः।"

अर्थात् तर्क से किसी प्रकार के निश्चय पर नहीं पहुँच सकते हैं, क्योंकि भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों के भिन्न भिन्न तर्क हैं। श्रुतियाँ भी नानाविध परस्पर विरोधी उपदेश करती हैं। कहीं भी ऐसे दो मुनि नहीं मिलेंगे जिनमें मतभेद न हो। धर्म का रहस्य मानो निबिड़ तम-पूरित कन्दराओं में छिपा है। अतएव महापुरुषों ने जिस मार्ग से प्रयाण किया है, उसीका अनुसरण करना चाहिये।" यक्ष युधिष्ठिर के उत्तर सुन बोला, "राजन्, मैं आपसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं सारस-रूप में धर्म हूँ और आपकी परीक्षा लेरहा था। देखिये आपके बन्धुगण पूर्ववत् जीवित हैं। यह सब मेरी माया थी। हे भरतर्षभ, आप अर्थ काम की अपेक्षा अहिंसा को श्रेष्ठ मानते हैं—

इसलिये आपके सब बन्धुगण जीवित हो उठेंगे।" यक्ष द्वारा इन शब्दों का उच्चारण होते ही, चारों पाण्डव उठ गये।

यहाँ महाराज युधिष्ठिर के स्वभाव और चरित्र की एक झलक दिखाई गई है। उनके उत्तरों से हमें ज्ञात होता है कि वे एक राजा की अपेक्षा एक ज्ञानी, दार्शनिक और योगी ही अधिक थे।

इस समय देश-निर्वासन का तेरहवाँ वर्ष समीप आरहा था, इसलिये यक्ष ने महाराज युधिष्ठिर को राजा विराट के राज्य में वेष बदलकर रहने की सम्मति दी।

बारह वर्ष की अवधि व्यतीत होने पर, वे एक वर्ष अज्ञात-वास के हेतु, भिन्न भिन्न वेष धारण कर, विराट के राज्य में गये और वहाँ उसके महल में सामान्य भृत्य-कार्य करने लगे। युधिष्ठिर द्यूत-क्रीड़ा में चतुर थे, वे दरबार में ब्राह्मण-सभासद बन गये। भीम ने पाचक-कर्म अंगीकार किया। अर्जुन नपुंसक वेष धारण कर राजकन्या उत्तरा को संगीत व नृत्य की शिक्षा देता था और अन्तः-पुर में निवास करता था। नकुल राजा की अश्वशाला का प्रबंधक नियुक्त होगया। सहदेव ने गो-पालन का कार्य स्वीकार किया। द्रौपदी भी चेटी या सैरन्ध्री का वेष धारण कर राजा के अन्तःपुर में रहने लगीं। इसी प्रकार छद्म-वेष में पाँचों पाण्डवों ने बारह महीने निर्विघ्न व्यतीत कर दिये और उनके अनुसंधानार्थ किये गये दुर्योधन के प्रयत्न व्यर्थ गये। वर्ष के अन्त में ही उनका पता चल सका।

प्रकट होने के पश्चात् युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के निकट एक राजदूत भेजा और प्रार्थना की कि उनके हिस्से का आधा राज्य उन्हें

सौंप दिया जाय। किन्तु दुर्योधन पाण्डवों से द्वेष करता था—उसने इस न्यायपूर्ण मांग की उपेक्षा की। पाण्डव तो एक प्रान्त नहीं—पाँच गांव भी स्वीकार करने के लिये राजी थे, किन्तु मूर्ख जिद्दी और उद्भट दुर्योधन ने जबाब दिया कि बिना युद्ध के सूई की नोक बराबर भी भूमि नहीं मिल सकती। वृद्ध धृतराष्ट्र ने गृह-कलह निवारणार्थ संधि करवाने का प्रयत्न किया किन्तु व्यर्थ। कृष्ण ने भी जाकर इस आसन्न युद्ध और ज्ञाति-नाश को टालने का यत्न किया। भीष्म द्रोण आदि वृद्ध गुरुजनों ने भी शान्तिपूर्वक राज्य का विभाजन करने का यत्न किया किन्तु कोई सफलता न मिली। निदान दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं, विश्व के लड़ाकू राष्ट्रों ने अपने अपने पक्षों को सहायता दी और रणभेरी बज उठी।

युद्ध में क्षत्रियों की सभी प्राचीन भारतीय प्रथाओं का पालन किया गया। दुर्योधन ने एक पक्ष ग्रहण किया और युधिष्ठिर ने दूसरा। युधिष्ठिर ने तत्काल ही सभी पार्श्ववर्ती राजाओं को सन्देश भेजकर सहायता की याचना की, क्योंकि क्षत्रियों में यह प्रथा थी कि जिसका अनुरोध पहिले प्राप्त होता उसीका पक्ष वे ग्रहण करते थे। इस प्रकार, सभी ओर के योद्धाओं ने दोनों दलों के अनुरोध की पूर्वापरता के अनुसार पाण्डवों और कौरवों का पक्ष ग्रहण किया। एक भाई इस पक्ष की ओर से युद्ध कर रहा था, तो दूसरा उस पक्ष की ओर से; एक ओर पिता था—तो दूसरी ओर से पुत्र युद्ध के लिये उद्यत खड़ा था। तत्कालीन युद्ध-नीति भी बड़ी अद्भुत थी। ज्योंही युद्धावसान होता और शाम आती, विरोधी दल अपना

वैमनस्य भूल जाते, और मित्रों की भाँति परस्पर के शिविरों में प्रवेश करने लगते। पर सूर्योदय होते ही वे पुनः युद्ध के लिये उद्यत हो-जाते थे। यह अद्भुत परिपाटी हिन्दुओं के चरित्र की दिग्दर्शक है, और मुसलमानों के आक्रमण काल तक उनमें विद्यमान थी। इसी प्रकार एक अश्वारोही किसी पदाति से युद्ध नहीं करता था; विष म बुझे शस्त्रास्त्रों का उपयोग वर्जित था; अप्रामाणिकता से तथा असु-विधाओं से त्रस्त शत्रु पर विजय पाना निषिद्ध था, किसी अन्य व्यक्ति का अनुचित लाभ उठाना गर्हित समझा जाता था। प्राचीन भारत में युद्ध सम्बन्धी इस प्रकार के कई नियम थे। इन नियमों का उल्लंघनकर्ता अत्यन्त लांछित और अपमानित किया जाता था। क्षत्रियों को जन्म से ही इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। और जब मध्य-एशिया से विदेशियों का आक्रमण हुआ तो हिन्दुओं ने आक्रमणकारियों के साथ इसी प्रकार बर्ताव किया। उन्होंने उन्हें अनेक बार पराजित किया, और उपहारादि प्रदान कर अपने देश भेज दिया। युद्ध का यह नियम था कि किसी के देश पर बलपूर्वक अधिकार न किया जाय, परास्त व्यक्तियों का यथायोग्य सम्मान किया जाता था और वे अपनी मातृ-भूमि में पहुँचा दिये जाते थे। परन्तु मुसलमान विजेताओं ने हिन्दुओं के साथ विपरीत बर्ताव किया, और उन्हें अपने हाथ में पाने पर नृशंसतापूर्वक नष्ट कर दिया।

इस युद्ध के प्रसंग में हमें एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। महाभारत में कहा गया है कि उन दिनों युद्ध-कला में इतनी प्रगति कर ली गई थी कि साधारण धनुष-बाण के स्थान पर मन्त्र-

चालित देवास्त्रों का प्रयोग होता था जिनमें मन्त्र-शक्ति और चित्त-वृत्ति की एकाग्रता का विशेष महत्व था। एक व्यक्ति शतसहस्त्रों व्यक्तियों से युद्ध कर अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग से उन्हें भस्म कर सकता था। वह एक तीर छोड़कर आकाश में गरजते हुए तीरों की झड़ी लगा सकता था, वह किसी भी वस्तु को भस्म कर सकता था—यह सब देवशक्ति का चमत्कार था। इन दोनों ही महाग्रंथों रामायण और महाभारत की एक बात और विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन देवास्त्रों के साथ साथ तोपों के उपयोग का उल्लेख भी हमें मिलता है। तोप एक अत्यन्त प्राचीन अस्त्र है जिसका हिन्दू और चीन निवासी सदियों से उपयोग करते रहे हैं। शहरों की चहारदीवारी पर लोहे की पोली नलियों के बने ऐसे सैकड़ों अद्भुत अस्त्र चढ़े रहते थे जिनमें गोला बारूद भर कर सहस्त्रों मनुष्यों का घात किया जासकता था। लोगों का विश्वास था कि चीन निवासी, जादू द्वारा, पोली नलियों में शैतान को कैद करलेते थे, और नली के मुँह पर जलते अंगारे रखते ही शैतान भयंकर गर्जना करते हुये बाहर आता और सैकड़ों मनुष्यों को नष्ट करदेता था!

इस प्रकार उस युग में लोग मंत्र-चालित शरों से युद्ध करते थे। और एक व्यक्ति लाखों सैनिकों से लड़ सकता था। सेना की व्यूहरचना करने का उनका एक अपना अलग विज्ञान था, और विभिन्न प्रकार से सैन्य विभाग करने की पद्धतियाँ प्रचलित थीं। उनकी सेनाओं में भी पैदल सैनिक रहते थे जिन्हें 'पाद' कहा जाता था, अश्वारोही सेना को 'तुरग' संज्ञा दी गई थी। इसके

अतिरिक्त दो दो विभाग और हैं जो सम्प्रति केवल नामशेष रह गये हैं। एक गज-पंक्ति होती थी जिसमें आरोहियों सहित व लोह-वर्म रक्षित सैकड़ों हाथी रहते थे, जो शत्रु-समूह को पैरों तले रौंद डालने का कार्य करते थे। उनकी सेनाओं में रथ भी थे। रथों का प्रयोग सभी देशों में हुआ है—उनके चित्र आपने देखे ही होंगे। इस प्रकार पदाति, तुरग, हस्ति और रथ—ये उस समय की सेना के चार विभाग थे।

दोनों ही पक्ष कृष्ण की अनुकूलता प्राप्त करना चाहते थे। किन्तु कृष्ण ने युद्ध में सक्रिय योग देने से इन्कार कर दिया। वे अर्जुन के सारथि और पाण्डवों के मित्र व सलाहकार बनने के लिये सहमत होगये और दुर्योधन को उन्होंने अपनी अनेक योद्धाओं से सुसज्जित सेना प्रदान करदी।

फिर कुरुक्षेत्र के महान रणक्षेत्र में उस युद्ध का श्रीगणेश हुआ—जिसमें भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन के भ्रातृवृन्द, दोनों ही पक्षावलम्बी अनेक कुटुम्बीजनों और सहस्रों प्रचण्ड योद्धाओं के साथ काम आये। १८ दिन तक युद्ध चलता रहा। १८ अक्षौहिणी सेना में से केवल गिनती के योद्धा ही बच पाये। दुर्योधन की मृत्यु से युद्ध समाप्त हुआ। पाण्डवों की विजय हुई। इसके पश्चात् कौरव-जननी महारानी गांधारी और विधवा स्त्रियों के करुण विलाप तथा मृतकों के अग्नि-संस्कार का वर्णन है।

महाभारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है—गीता की अमर और अद्भुत रचना—भगवद्गीता। गीता भारत का लोकप्रिय

धर्म-ग्रंथ है—उसकी सर्वोदात्त शिक्षा है। इसमें, कुरुक्षेत्र में युद्धारम्भ के पूर्व, अर्जुन और कृष्ण का संवाद लिपिबद्ध किया गया है। जिन्होंने गीता नहीं पढ़ी है उन्हें मैं उसे पढ़ने की सलाह दूँगा। अगर आप जानते होते, आपके खुद के देश को गीता ने कितना प्रभावित किया है तो आज तक आप उसे बिना पढ़े रह ही नहीं सकते थे। इमर्सन के उच्च भाव-स्रोत का उद्गम यही गीता है। वे एक बार कार्लाइल से मिलने गये, और कार्लाइल ने उन्हें गीता भेंट की और इसी छोटी सी पुस्तक से कॉंकॉर्ड * में जिस उदार दार्शनिक तत्व के आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ उसकी नींव पड़ी। और अमेरिका में जितने उदारभावों के आन्दोलन हैं वे सभी किसी न किसी प्रकार उस कॉंकॉर्ड-आन्दोलन के ऋणी हैं।

गीता के मूल-नायक कृष्ण हैं। जिस प्रकार आप नाजरथ के ईसा मसीह को ईश्वर का अवतार मान उपासना करते हैं इसी प्रकार हिन्दू भी कई अवतारों की अर्चना करते हैं। वे एक दो में नहीं—कई अवतारों में विश्वास करते हैं, जिनके रूप में भगवान विश्व की आवश्यकतानुसार, धर्म-संस्थापनार्थ और दुष्कृतों के विनाश हेतु पृथ्वी पर समय समय पर प्रकट हुये हैं। भारत में हरएक पंथ का एक एक अवतार है, और कृष्ण भी उनमें से एक हैं। भारतवर्ष में अन्य अवतारों की अपेक्षा कृष्ण के उपासक गणना में अधिक हैं। उनके उपासकों का विश्वास है कि कृष्ण पूर्णावतार हैं,

---

* Concord—युक्त राज्य का एक शहर। यहीं इमर्सन ने अपने जीवन के शेष ४८ वर्ष बिताये थे।

और शंका करने पर वे कहते हैं—बुद्ध और अन्य अवतारों की ओर दृष्टिपात कीजिये। वे केवल संन्यासी थे, गृहस्थों के प्रति उनके हृदय में कोई सहानुभूति नहीं थी, और होती भी कैसे ? पर कृष्ण के जीवन को देखिये, पुत्र, पिता, राजा—सभी दृष्टियों से वे महान और आजीवन वे अपनी इस महान शिक्षा को आचरण में लाते रहे।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

(गीता, ४-१८)

जो मनुष्य प्रबल कर्मशीलता के बीच रहता हुआ भी नैष्कर्म्य की मधुर शान्ति का उपभोग करता है, और महा निस्तब्धता में भी जो अत्यन्त कर्मशील रह सकता है, उसीने जीवन के रहस्य को ठीक ठीक जान लिया है।

कृष्ण ने इस स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग भी बताया है—वह है अनासक्ति योग। सभी प्रकार का कर्म करो, किन्तु उसमें आसक्त मत हो। तुम सर्वदा निर्विकार, शुद्ध-बुद्ध और मुक्त आत्मा हो—अलिप्त और साक्षी हो। हमारे दुःखों का मूल कर्म नहीं, आसक्ति है। उदाहरणार्थ अर्थ की ही बात लें। सम्पत्तिशाली होना बड़े भाग्य की बात है। कृष्ण कहेंगे—अर्थोपार्जन करो, उसके लिये जीतोड़ परिश्रम करो, पर उसमें आसक्ति मत रखो। यही भाव सन्तान, पत्नी, पति, कुटुम्बी, ख्याति आदि के सम्बन्ध में रखो। उनका त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है; केवल उनमें आसक्त मत बनो। आसक्ति और अनुराग का भाजन तो केवल

भगवान ही बन सकते हैं—संसार की नश्वर और क्षुद्र वस्तुयें नहीं। अपने आत्मीयों के लिये परिश्रम करो, उन्हें प्यार करो, उनका हित-सम्पादन करो, अवसर आने पर उनके लिये अपने जीवन का बलिदान भी करदो—किन्तु उनमें आसक्त मत हो। कृष्ण का खुद का जीवन उनके इस उपदेश का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

यह स्मरण रहे कि कृष्ण का जीवन-चरित वर्णन करनेवाला ग्रंथ कई सहस्र वर्ष पुराना है, और कृष्ण और नाजरथनिवासी ईसा के जीवन की कुछ घटनाओं में अत्यन्त साम्य है। कृष्ण का राजकुल में जन्म हुआ था। कंस नाम का एक अत्याचारी राजा था और यह भविष्यवाणी की गई थी कि उसके स्थान पर अमुक वंश में जन्म-प्राप्त व्यक्ति राजा बनेगा। इसलिये कंस ने तमाम बालकों के वध की आज्ञा दे दी। कृष्ण के माता-पिता को कंस ने कारागृह में बंद करदिया था और वहीं उनका जन्म हुआ। उनके जन्म ग्रहण के समय समस्त कारागार ज्योति से उद्भासित हो उठा। नवजात बालक बोला, "मैं समग्र जीवजगत की ज्योति हूँ और विश्व कल्याण के लिए अवतीर्ण हुआ हूँ।" आप देखेंगे कि कृष्ण को रूपक स्वरूप गोपालनशील बताया गया है—और उनका एक नाम गोपाल है। संतों ने आकर कहा, "साक्षात् भगवान ने नररूप धारण किया है" और वे उनकी स्तुति-गान करने लगे। श्रीकृष्ण की जीवन-लीला के अन्य अंशों में ईसा के जीवन से साम्य नहीं है।

कृष्ण ने नृशंस और क्रूर कंस को पराभूत किया किन्तु सिंहासनासीन हो स्वयं राज्य करने का विचार तक उनके मन में

नहीं आया। उनका इससे लेश-मात्र भी सम्बन्ध नहीं। उन्हें तो बस अपना कर्तव्य भर पूर्ण करना था। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् प्रचण्ड योद्धा भीष्म पितामह—जिन्होंने १८ दिन में से १० दिन तक युद्ध किया था—अद्यापि शरशय्या पर ही लेटे लेटे युधिष्ठिर का राजा के कर्तव्य, वर्णाश्रम धर्म, विवाह, दान आदि विषयों पर, प्राचीन ऋषियों की शिक्षा पर आधारित उपदेश प्रदान कर रहे थे। उन्होंने युधिष्ठिर को सांख्य और योग दर्शनों की शिक्षा दी, और अनेक उपाख्यान, ऋषि-मुनियों, राजाओं व देवताओं के जीवन के प्रसंग बताये। इन शिक्षाओं से, पूर्ण ग्रंथ का प्रायः एक चतुर्थांश भाग भरा है और ये आर्यों की नीति, विधि और कर्तव्य शास्त्र की आगार हैं।

इसी बीच युधिष्ठिर का राज्यारोहण होगया। व्यास के आदेशानुसार उन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी कर लिया किन्तु भीषण रक्तपात और गुरुजनों व आत्मीयों के नाश का महान दुःख उन्हें मन ही मन रुला रहा था। युद्ध के पश्चात् चौदह वर्ष तक महाराज धृतराष्ट्र शान्ति और सम्मान पूर्वक जीवित रहे। युधिष्ठिरादि उनकी पिता के समान आज्ञा मानते थे। अब वे वृद्ध राजा युधिष्ठिर को सिंहासन पर छोड़, अपनी पतिपरायणा रानी और पाण्डव-जननी कुन्ति को साथ ले, अपने शेष दिन भगवदाराधना में व्यतीत करने वन में चले गये।

धीरे धीरे युधिष्ठिर को राज्य मिले ३६ वर्ष बीत गये। तब उन्हें कृष्ण के देहत्याग का हृदय-विदारक समाचार ज्ञात हुआ। उनके मित्र और सलाहकार कृष्ण—तत्ववेत्ता और योगिराज कृष्ण

इस संसार में न रहे। अर्जुन शीघ्रता से द्वारका पहुँचे पर यही दुःखद वार्ता लेकर लौटना पड़ा कि कृष्ण और सभी यादव काल-कवलित होगये हैं। तब दुःखाभिभूत हो महाराज युधिष्ठिर और उनके बंधु सोचने लगे कि अब उनका भी इस विश्व से प्रस्थान करने का समय समीप आ पहुँचा है। राज्य-भार अर्जुन के पौत्र परीक्षित को सौंप, महाप्रस्थान करने वे हिमालय पर चले गये। यह संन्यास का एक विशेष प्रकार है। वृद्ध राजाओं में संन्यास ग्रहण करने की प्रथा थी। प्राचीन भारत में, वृद्धावस्था प्राप्त करने पर, व्यक्ति सर्वस्व त्याग कर संन्यास लेलेते थे। जीवन के प्रति ममता का अन्त हो जाने पर, वे निर्जल-अनशन व्रत धारण कर हिमालय की ओर प्रस्थान करदेते थे और देह-पात पर्यन्त ईश्वर-चिन्तन करते करते आगे बढ़ते जाते थे।

अब देवता और ऋषिगण आकर युधिष्ठिर को सशरीर स्वर्ग जाने के लिये कहने लगे। इसके लिये हिमालय के सर्वोच्च शिखर को पार करना आवश्यक होजाता है। हिमगिरि के उस पार सुमेरु पर्वत है और उसी के शिखर पर स्वर्ग है। कोई भी वहाँ सदेह प्रवेश नहीं कर सका। वहीं देवताओं के निवास हैं। देवताओं ने युधिष्ठिर को यहाँ आमंत्रित किया।

अतः पाँचों भाइयों और उनकी पत्नी द्रौपदी ने वल्कल परि-धान किया और यात्रा प्रारम्भ करदी। मार्ग में एक कुत्ता उनका अनुगमन करने लगा। वे आगे ही आगे बढ़ते गये, उनके क्लान्त और व्यथित पद उत्तर में उस ओर बढ़ रहे थे जहाँ गिरिराज

हिमालय अपने गर्वोन्नत मस्तक पर शुभ्र हिमाच्छादित शिखरों का मुकुट धारण किये खड़ा है। अब उन्हें सुमेरु गिरि के भी दर्शन होने लगे।

निस्तब्धतापूर्वक वे श्वेत हिम-राशि पर चलते जा रहे थे कि महारानी द्रौपदी अवसन्नदेह हो भूमि पर गिर पड़ीं—और फिर नहीं उठ सकीं। सबके अग्रेसर युधिष्ठिर से भीम ने कहा, "महाराज देखिये, महारानी गिर पड़ी हैं।" राजा की आँखों से आँसू झर रहे थे, पर उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। वे केवल इतना ही बोले, "हम अपने आराध्य कृष्ण से मिलने आतुर हो चले जा रहे हैं—पीछे देखने के लिये समय नहीं है। आगे बढ़ो।" कुछ देर बाद भीम फिर बोले, "देखिये सहदेव भी भूमिपतित होगया है।" राजा के नयनों से पूर्ववत् आँसुओं की झड़ी लगी थी, पर वे रुके नहीं। उनके ओठों पर वही 'आगे बढ़ो' का आदेश था।

अब क्रमशः नकुल, अर्जुन और भीम का भी उस शीत और हिम में देहपात होगया, पर युधिष्ठिर एकाकी होने पर भी, अविचलित भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे। पीछे घूमने पर उन्हें दिखा कि वफादार कुत्ता अब भी उनके पीछे पीछे आरहा था। खाई-पहाड़ों को पार करते हुए वे उस अनन्त हिम-राशि पर चढ़ते चढ़ते अन्त में मेरु पहाड़ तक पहुँच गये और उन्हें स्वर्ग के संगीत कर्ण-गोचर होने लगे। धर्मनिष्ठ राजा पर देवताओं ने देवपुष्पों की वृष्टि की। तब देवताओं का रथ उतरा और सुरपति इन्द्र ने महाराज से प्रार्थना की, "नर-श्रेष्ठ, इस रथ में पधारिये, आपको सदेह

स्वर्ग-गमन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।" किन्तु नहीं—युधिष्ठिर अपने स्नेही-बंधुओं और महारानी द्रौपदी के बिना यह स्वीकार नहीं कर सके। तब इन्द्र ने उन्हें बताया कि उनके भाई पहिले ही स्वर्ग में पहुँच गये हैं।

अब युधिष्ठिर चारों ओर दृष्टिपात कर अपने कुत्ते से बोले, "रथ में चढ़ जाओ, वत्स।" इन्द्र यह सुन कर चकित से रह गये। वे बोले "क्या यह अधम कुत्ता रथारूढ़ होगा? महाराज, आप विचार-शक्ति तो नहीं खो बैठे हैं? आप का क्या आशय है? इस कुत्ते को आप को त्यागना होगा। यह कैसे स्वर्ग जा सकता है? महाराज, आप मनुष्य-जाति में सर्व श्रेष्ठ धार्मिक हैं? केवल आपही सशरीर स्वर्ग-गमन कर सकते हैं।" युधिष्ठिर शान्त चित्त से बोले, "इसने हिम और शीत में मेरा साथ दिया है। मेरे चारों बन्धु एक एक कर देह त्याग कर गये, राजमहिषी द्रौपदी भी इस लोक से चली गईं, पर इस स्वामीभक्त कुत्ते ने मेरा साथ कभी नहीं छोड़ा। मैं भला, कैसे इसका त्याग कर सकता हूँ।" तब इन्द्र बोले, "कुत्तों को साथ लाने वाले मानवों के लिये स्वर्ग में कोई स्थान नहीं। इसलिये इस कुत्ते का परित्याग आपको करना ही होगा—इसमें कोई अधर्म नहीं होगा।" राजा युधिष्ठिर उसी प्रकार दृढ़ हो बोले, "यदि यह कुत्ता मेरे साथ स्वर्गारोहण नहीं कर सकता तो मुझे भी स्वर्ग जाने की कोई लालसा नहीं है। इस देह में प्राण रहते, मैं कभी भी ऐसे व्यक्ति का परित्याग नहीं करूँगा जिसने मेरा आश्रय ग्रहण किया है। स्वर्ग के आनन्द का लोभ, या किसी देवता

की आज्ञा मुझे धर्म के मार्ग से पराङ्मुख नहीं कर सकती।" यह सुन सुरराज बोले, "केवल एक शर्त पर कुत्ता स्वर्ग में जासकता है। आप नरश्रेष्ठ हैं, मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ धर्म-परायण हैं और यह एक अधम-योनि का जीवमांस-भक्षी, हिंस्र पशु है। यह पापात्मा है, इसका जीवन हिंसापूर्ण है। आप पुण्यात्मा हैं—आप अपने पुण्यार्जित स्वर्ग का उससे विनिमय करलें।" राजा बोले, "सुरराज, मुझे स्वीकार है। कुत्ते को रथारूढ़ कर स्वर्ग में ले जाया जाये।"

युधिष्ठिर के यह वाक्य बोलते ही दृश्य परिवर्तित होगया। उनके ये उदात्त एवं उदार भाव सुन कर, वह कुत्ता अपने यथार्थ रूप में प्रकट होगया। युधिष्ठिर ने देखा, उनके समक्ष साक्षात् धर्मराज, न्याय और मृत्यु के देवता—यम खड़े हैं। धर्म राजा से बोले, "राजन्, आपसा निःस्वार्थ व्यक्ति अब तक इस भूमण्डल में नहीं जन्मा। आप एक क्षुद्र कुत्ते से अपने पुण्यार्जित स्वर्ग-भोग का विनिमय करने तैयार होगये; उसके लिये अपने समस्त पुण्य का त्याग कर, नर्क में जाना भी स्वीकार करलिया। महाराज, आपके जन्म-ग्रहण से यह वसुधा धन्य होगई है। हे राजन्, आपका हृदय प्राणि-मात्र के लिये स्नेह व करुणा से प्लावित हो रहा है, इसलिये आपने अपने पुण्य-प्रभाव से इन सब अनंत आनन्दमय लोकों का उपार्जन करलिया है और स्वर्ग ही आपके लिये एकमेव उपयुक्त धाम है।"

तब धर्मराज युधिष्ठिर, इन्द्र, धर्म और अन्य देवताओं के साथ, रथारूढ़ हो स्वर्गारोहण करते हैं। वहाँ उनकी नरक-दर्शनादि अन्य कतिपय परीक्षायें होती हैं। फिर वे सुरगंगा में स्नान कर,

निर्जर-देह धारण करते हैं। अमरत्वप्राप्त उनके बंधुओं से उनका स्नेह-मिलन होता है और वे सब आनन्द की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार महाभारत के उच्चभावात्मक महाकाव्य में 'धर्म की जय और अधर्म की पराजय दिखाने के पश्चात् उसकी परिसमाप्ति की गई है।

उपसंहार में, मेरे लिये महाप्रतिभा और मनीषा सम्पन्न महर्षि व्यास द्वारा वर्णित उन असंख्य महामहिमामय, उन्नत और उदात्त महापुरुषा के जीवन का उल्लेख करना भी नितान्त असम्भव है। धर्मभीरु किन्तु वृद्ध अंधे और निर्बल धृतराष्ट्र के हृदय में चलने-वाला पुत्र-प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व, पितामह भीष्म का उदात्त और उन्नत चरित्र, महाराज युधिष्ठिर का उदार व धार्मिक स्वभाव, और उनके चारों बंधुओं का उन्नत चरित्र, स्वामीनिष्ठा और अप्रतिम वीरता, मानवीय ज्ञान की चरम-सीमा प्राप्त श्रीकृष्ण का अद्वितीय व्यक्तित्व, और महासती तपस्विनी रानी गांधारी, पुत्रवत्सला कुन्ती, पतिपरायणा और सर्वसहिष्णु द्रौपदी आदि रमणियों का चरित्र—जो पुरुषों से किसी भाँति कम नहीं है—इस महाग्रंथ और रामायण के ये तथा अन्य अनगिनती चरित्र-नायक विगत सहस्रों वर्षों से समस्त हिन्दूजाति की यत्न-संचित जातीय सम्पत्ति रहे हैं और उनके विचारों व कर्तव्याकर्तव्य तथा नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों की आधार-शिला हैं। यथार्थ में, रामायण और महाभारत प्राचीन आर्य जीवन और बुद्धिमत्ता के दो ऐसे ज्ञान-कोष हैं जिनमें एक ऐसी उन्नत सभ्यता का चित्र खींचा गया है जो मानव-जाति को अब भी प्राप्त करनी है।

---

३. जड़ भरत की कथा

(कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण)

प्राचीन काल में भरत नाम के एक महान प्रतापी सम्राट भारतवर्ष में राज्य करते थे। विदेशी लोग जिस देश को 'इण्डिया' कहते हैं, उसे उस देश की सन्तान भारतवर्ष कहती आई है। हर एक हिन्दू के लिये स्मृति का आदेश है कि वृद्धावस्था में पदार्पण करते ही वह सर्वस्व त्याग कर, इस संसार का समस्त भार—ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति—अपने पुत्र के लिये छोड़ वनगमन करे और वहाँ अपने यथार्थ स्वरूप आत्मा का चिन्तन करते करते इस संसार के मोहों से मुक्ति प्राप्त करे। राजा और रंक, कृषक और किंकर, नर और नारी—सभी इसी प्रकार कर्तव्य-बद्ध हैं, क्योंकि गृहस्थ के सारे कार्य—पुत्र, बंधु, पति, पिता, स्त्री और पुत्री, माता और भगिनी सबके कर्तव्य-कर्म केवल इसी एक अवस्था की ओर लेजाने वाले सोपान मात्र हैं जिसमें मानव के जड़ बंधन चिर काल के लिये टूट जाते हैं और वह मुक्त होजाता है।

सम्राट भरत भी इसी प्रकार अपना राज्य अपने पुत्र के सुपुर्द कर वनवास करने चले गये। जो एक दिन कोटि कोटि प्रजा पर शासन करते थे, दुग्ध-धवल संगमर्मर के सुवर्ण-मण्डित राजप्रासादों में वास करते थे, जो रत्न-जटित चसकों से मदिरा सेवन करते थे, वही आज वन में जा, अपने ही हाथों से हिम-गिरि की तलहटी के

निबिड़ कान्तार में किसी स्रोतस्विनी के तीर पर घास-फूस की एक छोटी सी कुटी बनाकर निवास करने लगे। अपने परिश्रम से प्राप्त किये हुये कन्द-मूलों का आहार करते हुये महाराज भरत अपना जीवन उस अन्तर्यामी परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में बिताने लगे जो हर एक मनुष्य की आत्मा में नित्य विद्यमान है। इस प्रकार दिन, मास और वर्ष बीतने लगे।

एक दिन, जहाँ राजर्षि ध्यानावस्था में बैठे थे वहीं एक हरिणी पानी पीने आई। इसी क्षण कुछ दूरी पर एक सिंह ने गर्जना की। हरिणी इतनी भयभीत होगयी कि, तृष्णा शान्त किये बिना ही, उसने नदी पार करने के लिये छलांग मार दी। हरिणी सगर्भ थी, और इस श्रम और भय के कारण उसने तत्काल एक शावक प्रसव कर प्राण छोड़ दिये। मृग-शावक नदी में गिर पड़ा और तीव्र जल-धारा में बहने लगा। उसी समय राजर्षि भरत की दृष्टि उस पर पड़ी। वे ध्यानावस्था से उठकर उसकी रक्षा करने नदी में कूद पड़े। मृग-शावक को कुटी में लेजाकर उन्होंने अग्नि प्रदीप्त की, और अपनी स्नेह-पूर्ण हथेलियों से सहला सहला कर उसकी मूर्च्छा दूर की। करुणाविह्वल हो राजर्षि ने शावक की रक्षा का भार अपने ऊपर लेलिया और स्वयं ही हरित तृण और फल संग्रह कर उस का लालन-पालन करने लगे। वनवासी राजा का पितृवत् स्नेह पा मृग-शावक दिन दिन बड़ा हो धीरे धीरे एक सुन्दर हरिण बन गया। और राजर्षि, जिन्होंने जीवन के सम्पूर्ण मोह, अधिकार, सम्पदा और कौटुम्बिक स्नेह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करली थी,

सरिता-जल से उद्धार किये हुए इस मृग-शावक के मोह-पाश में बद्ध होगये। ज्यों ज्यों वे उससे अधिकाधिक स्नेह करने लगे, त्यों त्यों उनका ईश्वर-चिन्तन और उपासना कम होते गये। जब हरिण वन में चरने चला जाता और उसके लौटने में कुछ विलम्ब होजाता तो राजर्षि चिन्तातुर और दुःखी होने लगते। वे सोचते—कहीं मेरे प्यारे मृग-छौने पर किसी सिंह ने तो आक्रमण नहीं करदिया, उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं होगया, उसे आज क्यों इतनी देर होगई?

इस प्रकार वर्ष बीत गये, और महर्षि का मृत्यु-काल समीप आगया। मरणासन्न होने पर भी, उनका मन आत्मचिन्तन में मग्न न था; वे हरिण के विषय में सोच रहे थे और अपने प्रिय शावक की शोक-विह्वल आँखों पर दृष्टि स्थिर रखते हुए ही वे परलोकगामी हो गये। फल-स्वरूप उन्हें मृगरूप धारण कर पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ा। किन्तु कर्म नष्ट नहीं होता है, पूर्व जन्म के सुकृतों का फल उन्हें प्राप्त हुआ। यह हरिण जन्मतः ही जातिस्मर था; और यद्यपि वह वाचाहीन और चतुष्पाद था, उसे अपने पूर्व जन्म की सब घटनायें स्मरण थीं। वह अपने सहचरों का साथ छोड़, स्वभावतः ही तपोवनों के समीप चरने जाता जहाँ यज्ञ-होम और उपनिषद-पाठ होते रहते थे।

आयु पूर्ण होने पर मृगरूपी भरत ने पञ्चत्व प्राप्त किया और पुनः एक धन-सम्पन्न ब्राह्मण के कनिष्ठ पुत्र के रूप में जन्म लिया। इस जीवन में भी उन्हें अपने पूर्व जन्म का विस्मरण नहीं हुआ था, और उन्होंने अपने बाल्यकाल में ही जीवन के पाप-पुण्य के पाशों

से दूर रहने का निश्चय कर लिया। वय:प्राप्त होने पर बालक स्वस्थ और बलवान हो गया, पर वह एक शब्द भी नहीं बोलता था और संसार के मोह-मायापूर्ण व्यापारों में न फँसने के लिये वह जड़-मूढ़ और पागल सा रहने लगा। उसके हृदय में सदा अनन्त ब्रह्म-चिन्तन चला करता था और अपने प्रारब्ध कर्म क्षय करने के लिये ही वह जीवन बिता रहा था। कालक्रम से उसके पिता की मृत्यु होगई और पुत्रों ने परस्पर में सम्पत्ति का बँटवारा कर लिया। कनिष्ठ बंधु को मूक और अकर्मण्य समझ कर उसका भी हिस्सा वे निगल गये। वे उसे केवल जीवन-निर्वाहार्थ अन्न-प्रदान कर देते थे। बस केवल यहीं तक उनका उस पर अनुग्रह था। उसकी भाभियाँ भी सदैव उससे अत्यन्त कर्कश व्यवहार करती थीं। वे उससे सारे कठिन काम करवातीं और यदि वे उनकी इच्छानुसार काम न करते तो उससे अत्यन्त कठोर व्यवहार करतीं। किन्तु वे न तो कभी चिढ़े और न डरे ही; एक शब्द भी न बोलते हुए धैर्यपूर्वक सब सहते गये। जब वे उन्हें बहुत तंग करतीं तो वे घर से दूर जा एक वृक्ष-के नीचे भाभियों का क्रोध-शान्त होने तक बैठे रहते और फिर चुप चाप घर लौट आते।

एक दिन उनके भाई की पत्नियों ने उनके प्रति अत्यन्त नृशंस व्यवहार किया। भरत बिना कुछ बोले घर से निकल गये और किसी वृक्ष की छाया तले विश्राम करने लगे। दैवयोग से उस देश का राजा उसी मार्ग से पालकी पर बैठा जारहा था। पालकी ढोने वाले कहारों में से एक अचानक ही अस्वस्थ होगया, इसलिये

उसके भृत्यगण रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये किसी मनुष्य की खोज में इधर उधर देख रहे थे। वृक्ष के नीचे बैठे भरत को देख वे वहाँ आये और उन्हें हट्टा-कट्टा देखकर बोले, "राजा का एक शिविका-वाहक अस्वस्थ होगया है। क्या तुम उसके स्थान पर काम करोगे?" भरत कुछ न बोले। उन्हें इतना स्वस्थ देखकर, राजा के भृत्यों ने उन्हें बलपूर्वक पकड़ लिया और पालकी ढोने को बाध्य किया। भरत भी निःशब्द शिविका-वहन करने लगे। किन्तु शीघ्र ही राजा ने देखा कि पालकी की गति और दिशा सम नहीं हैं। पालकी में से झाँककर राजा नये वाहक को सम्बोधन कर बोला, "अरे मूर्ख! जा आराम कर, यदि तेरे कंधे दुख रहे हैं तो थोड़ा सा आराम कर।" तब भरत ने पालकी नीचे रख जीवन में प्रथम बार अपना मौन-भंग कर दिया और बोले, "हे राजन्, आप किसे मूर्ख कह रहे हैं? किसे आप शिविका नीचे रखने का आदेश देरहे हैं? आप किसे क्लान्त कह रहे हैं! किसे 'तू' कह सम्बोधन कर रहे हैं? राजन्, यदि 'तू' से आपका अर्थ यह मांस-पिण्ड है तो यह उसी पदार्थ से बना है जिससे आपकी देह; यह अचेतन और जड़ है—इसे थकावट और पीड़ा का कैसे ज्ञान होगा? यदि आपका अर्थ मन है तो यह भी आपके मन जैसा ही है; यह सर्वव्यापी है। किन्तु यदि 'तू' शब्द से आपका लक्ष्य इनसे भी परे किसी वस्तु से है तो वह केवल आत्मतत्त्व ही होसकता है जो मेरा यथार्थ स्वरूप है, जिसकी सत्ता आपमें भी है, और जो विश्व में 'एकमेवाद्वितीयम्' है। राजन्, क्या आप सोचते हैं कि आत्मा कभी क्लान्त भी होती

है ? क्या आप कहना चाहते हैं कि आत्मा कभी आहत भी होती है ! राजन्, मैं—यह शरीर—धरती पर रेंगनेवाले इन कीड़ों को पैरों तले कुचलना नहीं चाहता था, और इसीलिये उनकी रक्षा के यत्न में, पालकी की गति विषम होगई थी। किन्तु आत्मा कभी क्लान्त और व्यथित नहीं होती; उसे कभी दुर्बलता प्रतीत नहीं होती और न उसने शिविका-भार ही वहन किया, क्योंकि आत्मा तो सर्व-शक्तिमान और सर्वव्यापी है।" इस प्रकार भरत ने आत्मा के स्वरूप, पराविद्या आदि विषयों पर ओजस्विनी वाणी में बड़ी देर तक विवेचन किया। अपने ज्ञान और विद्वत्ता का राजा को अत्यन्त अभिमान था; पर भरत के ये शब्द सुन उसका गर्व चूर्ण होगया। पालकी से उतर कर उसने भरत के चरणों में प्रणाम किया और बोला, "महाभाग, मुझे क्षमा करें; आपको शिविका-वहन में नियुक्त करते समय मैं नहीं जानता था कि आप एक सिद्ध पुरुष हैं।" भरत राजा को आशीर्वाद दे विदा हो गये और पुनः पूर्ववत् जीवन यात्रा शुरू करदी। देहत्याग करने पर भरत आवागमन के बंधनों से मुक्त होगये।

---

४. प्रह्लाद-चरित

(कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण)

हिरण्यकशिपु दैत्यों का राजा था। देव और दैत्य यद्यपि एक ही पिता की सन्तान थे तथापि वे सदैव परस्पर युद्ध-संलग्न रहते थे। दैत्यों को मानवजन-प्रदत्त यज्ञ-भाग अथवा जगत के शासन का कोई अधिकार न था। किन्तु कभी कभी वे अत्यन्त प्रबल हो जाते और देवताओं को स्वर्ग से बाहर निकाल, उनका सिंहासन छीन, स्वयं राज करने लगते थे। तब देवतागण इस ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापी प्रभु विष्णु की प्रार्थना करते, और उनकी सहायता से उनकी विपदायें दूर होजाती थीं। दैत्य स्वर्ग से निकाल दिये जाते और पुनः देवगण राज करने लगते।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु इसी भाँति एक बार अपने ज्ञाति-बंधु देवगण पर विजय प्राप्त कर, स्वर्ग के सिंहासन पर आरूढ़ हो त्रिभुवन अर्थात् मानव व अन्य जीवजन्तु द्वारा अध्युषित मध्यलोक, सुरधाम स्वर्गलोक और दैत्य-भूमि पाताल पर शासन करने लगा। अब, उसने अपने को त्रिभुवन का स्वामी घोषित करदिया, और यह मुनादी पिटवा दी कि उसके सिवाय दुनिया पर कोई ईश्वर नहीं है; इसलिये कहीं भी कोई विष्णु की पूजा न करे और त्रिभुवन में एक मात्र उसी की पूजा की जाय।

हिरण्यकशिपु के प्रह्लाद नामक एक पुत्र था। अपनी शैशवावस्था से ही उसकी भगवान विष्णु के चरणाम्बुजों में परम

अनुरक्ति थी। बाल्यकाल में ही उसकी इस विशुद्ध भक्ति के लक्षण देख, दैत्यराज हिरण्यकशिपु को भय हुआ कि जिस पाप को वह संसार से ही जड़मूल सहित नष्ट कर देना चाहता है वही उसके अपने कुटुम्ब में जड़ जमाने का यत्न कर रहा है। अतः उसने अपने पुत्र को शंड और अमर्क नामक दो अत्यन्त कठोर और छात्रशासन-दक्ष आचार्यों के सुपुर्द कर दिया, और उन्हें आज्ञा दी कि भविष्य में प्रह्लाद को विष्णु का नाम तक कर्णगोचर न हो। आचार्य-द्वय, कुमार को अपने साथ घर ले आये, और उसे उसके समवयस्क अन्यान्य छात्रों के साथ रख कर शिक्षा देने लगे। किन्तु शिशु प्रह्लाद, शिक्षा में मनोयोग न दे, अपना सारा समय, अन्य दैत्य-बालकों को भगवान विष्णु की अर्चना-विधि सिखाने में ही बिताने लगा। जब आचार्यो को यह ज्ञात हुआ तो वे अतिशय भयभीत हुए। उन्हें प्रतापी दैत्यराज के कोप का अत्यन्त भय था—इसलिये बालक प्रह्लाद को इन कार्यो से परावृत्त करने के लिये वे यथाशक्ति चेष्टा करने लगे। किन्तु प्रह्लाद के लिये तो विष्णु-नाम-ग्रहण श्वास-प्रश्वास की भाँति स्वाभाविक था, स्वयं विष्णु की उपासना करना और इतर जनों को उसकी प्रणाली सिखाना—यही उनका जीवन था, अतः वह अपने मार्ग से विचलित न हो सके। निदान अपन दोष-क्षालनार्थ आचार्यो ने स्वयं हिरण्यकशिपु से यह भयंकर तथ्य निवेदन कर दिया कि प्रह्लाद, न केवल स्वयं ही विष्णु की उपासन करता है, अपितु अन्य बालकों को भी उपासना-प्रणाली सिखा-सिखा कर कुपथगामी बना रहा है।

यह समाचार सुन, दैत्यराज क्रोध से आगबबूला होगया। उसने बालक प्रह्लाद को अपने सामने बुलवाया। प्रथम उसने कोमल वाणी में उसे विष्णु की पूजा से पराङ्मुख कर यह समझाने का यत्न किया कि ब्रह्माण्ड में दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है—इसलिये केवल उसी की पूजा की जाय। किन्तु बालक प्रह्लाद पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। वह पुनः पुनः यही कहता था कि सर्व-व्यापी, त्रिभुवनेश्वर भगवान विष्णु ही एकमात्र उपास्य हैं, और दैत्यराज का राजत्व भी भगवान विष्णु के इच्छाधीन है। अब दैत्यराज के क्रोध की सीमा न रही और उन्होंने तत्काल प्रह्लाद के वध की आज्ञा दे दी। दैत्यों ने तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से उस की कोमल देह पर आघात किये, पर उसका चित्त विष्णु के ध्यान में इतना मग्न था कि उसे तनिक भी पीड़ा नहीं हुई।

हिरण्यकशिपु को जब ज्ञात हुआ कि शस्त्र-प्रहार से प्रह्लाद का बाल भी बांका न हुआ तो वह अत्यन्त भयाकुल हो गया। किन्तु दानवोचित असत्-प्रवृत्ति के वशीभूत हो, उसने बालक प्रह्लाद का वध करने के कई राक्षसी उपायों का अवलम्बन करना शुरू कर दिया। उसने उसे हाथी के पैरों तले कुचल देने का आदेश दिया। किन्तु जिस प्रकार क्रुद्ध हाथी लोह-गोलक को अपने पूरे सामर्थ्य से भी नहीं पीस सकता, उसी भाँति प्रह्लाद का भी वह कुछ न बिगाड़ सका। जब इस उपाय से काम न चला, तो दैत्यराज ने प्रह्लाद को पहाड़ की चोटी से फेंकने की आज्ञा दी। इस आदेश का भी पालन हुआ, पर प्रह्लाद के हृदय-कमल में भगवान विष्णु निवास

करते थे, इसलिये वह कोमल तृणांकुरों पर धीरे से गिरनेवाले हल्के फूल की भाँति पृथ्वी पर आ पड़ा। प्रह्लाद का विनाश करने के लिये हिरण्यकशिपु ने विष, अग्नि, अनशन, कूप-पातन, तंत्र-मंत्र आदि अनेकविध उपायों का प्रयोग किया किन्तु सब व्यर्थ हुये। 'जाको राखे साईयाँ, मार सके नहिं कोय'। प्रह्लाद के हृदय में भगवान विष्णु की छवि स्थित थी, उसका कौन क्या बिगाड़ सकता था ?

अन्त में हिरण्यकशिपु ने आज्ञा दी कि पाताल से विशाल-काय सर्पों का आह्वान किया जाय, और प्रह्लाद को नाग-पाश में बद्ध कर, समुद्र के पेंदे में फेंक दिया जाय, फिर उस पर बड़े बड़े पहाड़ स्तूपाकार चुन दिये जायँ—जिससे तत्क्षण नहीं तो—निदान काल-क्रम से उसका अन्त हो जाय। इस प्रकार नृशंस व्यवहार किये जाने पर भी, बालक प्रह्लाद अपने परमाराध्य विष्णु की "हे त्रिभुवनेश्वर, हे जगत्पते, हे अनन्त-सौन्दर्य-निधे," कह कह प्रार्थना करते रहे। इस प्रकार संकट-काल में विष्णु का ध्यान और चिन्तन करते करते, बालक को भास होने लगा स्वयं भगवान विष्णु उसके निकट विद्यमान हैं—निकट ही नहीं—विष्णु उसकी आत्मा में अवस्थित हैं। धीरे धीरे उसे प्रतीत होने लगा कि वह स्वयं विष्णु है और अग-जग में सर्वत्र वही व्याप्त हो रहा है।

ज्योंही प्रह्लाद को यह अद्वैतानुभूति होने लगी, नागपाश स्वयमेव खुलने लगे, पहाड़ चूर-चूर होने लगे, समुद्र में ज्वार-भाटा आने लगा, और लहरों ने उसे अपने शिर पर धारण कर किनारे तक पहुँचा

दिया। प्रह्लाद उस समय यह सब भूल गया कि वह एक दैत्य है, और उसके पार्थिव शरीर है। उसे प्रतीति हो रही थी—वह समग्र ब्रह्माण्ड-स्वरूप है, और विश्व की समस्त शक्तियों का आदिस्रोत है; इस जगत में—प्रकृति में—ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसे क्षति पहुँचा सके, वह स्वयं प्रकृति का शास्ता-स्वरूप है। इस प्रकार समाधिजनित अविच्छिन्न परमानन्द में कुछ काल व्यतीत होने पर, शनैः शनैः उसे देहभान हुआ और स्मरण होने लगा कि वह दैत्य-कुलोत्पन्न प्रह्लाद है। देह-भान होते ही उसे पुनः यह ज्ञान होने लगा कि उसके अन्तर और बाह्य—चारों ओर ईश्वर की सत्ता है और उसे हर वस्तु में विष्णुरूप के दर्शन होने लगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने जब देखा कि उसके अनन्य शत्रु विष्णु के अनन्य भक्त—उसके पुत्र प्रह्लाद के निधनार्थ प्रयुक्त सभी लोग विफल होगये हैं तो वह भीतिग्रस्त और किंकर्तव्य-मूढ़ होगया। उसने पुनः प्रह्लाद को अपने समीप बुलवाया और मधुर वचनों से अपनी सलाह पर चलने का उपदेश देने लगा। किन्तु प्रह्लाद पूर्ववत् ही उत्तर देता रहा। हिरण्यकशिपु ने सोचा कि शिक्षा और वय-वृद्धि के साथ साथ प्रह्लाद के ये बालोचित विचार बदल जायेंगे। इसलिये उसने उसे पुनः शंड और अमर्क के सुपुर्द कर उसे राजधर्म की शिक्षा प्रदान करने का आदेश दिया। किन्तु प्रह्लाद की उसमें कोई रुचि न थी, और अवकाश पाते ही वह अपने सहपाठियों को विष्णु की उपासना का उपदेश देने लगता।

राजा के कानों जब यह समाचार पहुँचा तो वह क्रोध में

आपे से बाहर हो गया। उसने प्रह्लाद को बुलाकर प्राणान्त की धमकियाँ दी और उसके उपास्य विष्णु के प्रति हीनतम अपशब्द प्रयुक्त किये। किन्तु इसके उपरान्त भी प्रह्लाद बार बार बलपूर्वक यही कहता गया कि भगवान विष्णु, चराचर के स्वामी और अनन्त, अनादि, सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान और एकमात्र आराध्य हैं। हिरण्यकशिपु सक्रोध गरजकर बोला, "अरे पापिष्ठ, यदि तेरा विष्णु सर्वव्यापी है, तो क्या वह उस स्तम्भ में नहीं है?" प्रह्लाद बोला, "क्यों, नहीं? वे उस स्तम्भ में भी विद्यमान हैं।" लड़के की धृष्टता से क्रुद्ध दैत्यराज बोला, "रे दुष्ट, मैं अभी इस खड्ग से तुझे यमसदन भेजे देता हूँ, देखूँ कैसे तेरा विष्णु तेरी रक्षा करता है।" ऐसा कह हिरण्यकशिपु अपनी तलवार ले उसकी ओर झपटा और उसने उस स्तम्भ पर एक ज़ोर का वार किया। इसी क्षण उस स्तम्भ से वज्र-निर्घोष हुआ और भगवान विष्णु नृसिंह-रूप धारण कर प्रकट हुये। सहसा यह भीषण रूप देख कर दैत्यगण भयभीत हो प्राणरक्षार्थ इतस्ततः दौड़ने लगे। हिरण्यकशिपु बलपूर्वक प्राणपण से बड़ी देर तक वहाँ युद्ध करता रहा—किन्तु अन्त में भगवान नृसिंह के हाथों पराभूत और निहत होगया। तब देवतागण स्वर्ग से आगमन कर विष्णु की स्तुति-गान करने लगे। प्रह्लाद भी भक्ति-विह्वल हो प्रभु के चरणों में प्रणिपात कर, गद् गद् कण्ठ से विष्णु की प्रार्थना करने लगे। तब भगवान प्रसन्न हो प्रह्लाद से बोले, "वत्स, प्रह्लाद! तुम निर्भय हो इच्छानुसार वर माँगो, तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो।" प्रह्लाद गद् गद् स्वर में बोले, 'प्रभु, आपके दर्शन पाकर अब और कौनसी

इच्छा अतृप्त रहगई है ? आप मुझे किसी प्रकार के ऐहिक या पारात्रक ऐश्वर्य का प्रलोभन न दिखाइये।" पुनः भगवान बोले, "प्रह्लाद, तुम्हारी निष्काम भक्ति देखकर मुझे तुमसे अत्यन्त प्रीति होगई है। हमारा दर्शन निष्फल नहीं होता, इसलिये वत्स, कोई एक वर अवश्य माँग लो।" तब प्रह्लाद बोले :

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(विष्णु पुराण, १–२०–१९)

अर्थात् हे प्रभो, जो तीव्र आसक्ति अज्ञानियों को ऐहिक पदार्थों के प्रति होती है, वही मेरे हृदय में आपका स्मरण करते समय आपके प्रति हो।"

तब भगवान बोले, "प्रह्लाद, यद्यपि मेरे परम भक्तों को इहलोक और परलोक में किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती है, तथापि मेरे आदर्श से सदा मुझमें भक्ति रखते हुए, कल्पान्त तक इस लोक का ऐश्वर्य भोग और पुण्य कर्मो का अनुष्ठान करो और इस प्रकार कालक्रम से यह देह-पात होनेपर तुम मुझे प्राप्त करोगे।"

इस प्रकार प्रह्लाद को वर प्रदान कर भगवान विष्णु अन्तर्हित हो गये। तब ब्रह्मा प्रभृति देवगण भी प्रह्लाद को दैत्यराज अभिषिक्त कर अपने अपने लोक को प्रस्थान करगये।

---

५. विश्व के महान आचार्य

(३ फरवरी १९०० को पैसाडेना शेक्सपियर समिति में दिया हुआ भाषण)

हिन्दुओं के मतानुसार यह विश्व तरंगों की भाँति गतिमान है। वह एक बार उठता है और उन्नति की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है; तदन्तर उसका पतन प्रारम्भ होता है—कुछ समय तक वह इसी प्रकार अवनति के गर्त में पड़ा रहता है—मानो पुनः उत्थान के लिये शक्ति संग्रह कर रहा हो! सागर की भीमकाय तरंगों के समान निरन्तर उत्थान और पतन, पतन और उत्थान—यही विश्व की गति है। समष्टि के लिये जो विधान सत्य है वही व्यष्टि के लिये भी सत्य होगा। मनुष्य-समाज के सभी व्यापारों में भी यही तरंगवत् उत्थान और पतन की गति है; राष्ट्रों के इतिहास भी इसी उत्थान और पतन की कहानियाँ हैं, वे उठते हैं और गिरते हैं—उत्थान के बाद पतनकाल आता है व पतन के पश्चात् पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्ति के साथ पुनरुत्थान होता है। निरन्तर यही उत्थान व पतन का चक्र चलता रहता है। धार्मिक जगत में भी अनवरत रूप से यही क्रिया चल रही है। प्रत्येक जाति के आध्यात्मिक जीवन में पतन व उत्थान के युग होते हैं। जब जाति की अवनति होती है तो प्रतीत होता है उसकी जीवन-शक्ति नष्ट होगई है—वह छिन्न-भिन्न होगई है। किन्तु वह पुनः बल संग्रह करती है—उन्नति करने लगती है—जाग्रति की एक विशाल लहर उठती है, और सदैव यही देखा जाता है कि इस विशालकाय तरंग के उच्चतम सिर पर

कोई दिव्य महापुरुष विराजमान रहते हैं। एक ओर जहाँ वे उस तरंग—उस जाति के अभ्युत्थान के शक्तिदाता होते हैं, वहीं दूसरी ओर वे स्वयं उस महती शक्ति के फलस्वरूप होते हैं जो (शक्ति) उस अभ्युदय—उस तरंग का मूल है। इस प्रकार वे एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं—परस्पर के स्रष्टा एवं सृष्ट हैं—जनक व जन्य हैं। वे एक ओर समाज को अपनी महान शक्ति से प्रभावित व अभिभूत करते हैं और दूसरी ओर समाज की अभ्युदय-कारी शक्ति के ही वे प्रतीक या आधार होते हैं। ये ही संसार के महान विचारक व मनीषी होते हैं; ये ही दुनिया के पैगम्बर, जीवन-दर्शन के संदेश-वाहक ऋषि व ईश्वर के अवतार कहलाते हैं।

कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि दुनिया में केवल एक ही धर्म, एक ही ईश्वरावतार या एक ही पैगम्बर हो सकता है, किन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। इन सब महापुरुषों के जीवन का अध्ययन व मनन करने पर हमें ज्ञात होगा कि उनमें से प्रत्येक को विधाता ने मानो केवल एक—बस एक अंश का अभिनय करने ही निर्दिष्ट किया था कि राग-माधुरी-एकलयता सब स्वरों के समन्वय में है, किसी एक स्वर में नहीं। विभिन्न राष्ट्रों व जातियों के इति-हास भी यही बतायेंगे—कोई जातिविशेष सदा के लिये संसार का उपभोग करने की अधिकारी नहीं रह सकती। जातियों की इस ईश्वरनिर्दिष्ट एकलयता में सभी जातियों को अपने अपने अंश का अभिनय करना पड़ता है। सभी जातियों को अपना अपना जीवन-ध्येय प्राप्त करना पड़ता है, अपने अपने कर्तव्य की पूर्ति करनी

पड़ती है। इन सब का महान समन्वय व समष्टि ही उस महान एकलयता का निर्माण करती है।

अतएव, इन महान पैगम्बरों में से, कोई भी सारे विश्व पर सदा के लिये शासन करने नहीं जन्मा है। ऐसा न तो आज तक हुआ है और न भविष्य में कभी होगा ही। उनमें से प्रत्येक ने मानवता की शिक्षा में अपना अपना अंश प्रदान किया है, जहाँ तक इस अंश का संबंध है कहा जा सकता है कि, समय प्राप्त होने पर, अवश्य ही ये महापुरुष विश्व के शासक व भाग्यविधाता बनेंगे।

हममें से अनेक जन्मतः ही सगुण धर्म अवतारवाद में श्रद्धा रखते हैं। हम सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं, सूक्ष्मतत्वों व उपपत्तियों पर विचारविमर्श करते हैं। यह ठीक है, किन्तु हमारे प्रत्येक कार्य, प्रत्येक विचार, से यही प्रकट होता है कि हम किसी तत्व को केवल तभी समझ सकते हैं जब किसी व्यक्तिविशेष के चरित्र में हम उसे उतरा हुआ पाते हैं। किसी सूक्ष्म तत्व की धारणा में हम तभी समर्थ होते हैं जब वह किसी पुरुषविशेष के रूप में साकार रूप धारण कर लेता है। केवल दृष्टान्त की सहायता से ही हम उपदेशों को समझ पाते हैं। काश कि ईश्वरेच्छा से हम सब इतने उन्नत होते कि हमें तत्वविशेष की धारणा करने में दृष्टान्तों व आदर्श पुरुषों के माध्यम की आवश्यकता न पड़ती। किन्तु हम इतने उन्नत नंहा हैं, और इसलिये स्वभावतः ही अधिकांश मनुष्यों ने इन असाधारण व्यक्तियों, ईसाइयों, बौद्धों व हिन्दुओं द्वारा पूजित इन पैगम्बरों व अवतारों को आत्म-समर्पण कर दिया है। मुसलमानों ने तो आरम्भ से

ही ऐसी उपासना का विरोध किया है। पर इस कट्टर विरोध के बावजूद भी हम देखते हैं कि एक पैगम्बर की उपासना तो दूर रही, वे प्रत्यक्षतः सहस्रों पीरों की पूजा करते पाये जाते हैं। प्रत्यक्ष घटनाओं को मिथ्या नहीं कहा जासकता। व्यक्तिविशेष की अर्चना हमें करनी ही होगी। इसीमें हमारा हित है। तुम्हारे उपास्यदेव ईसा को जब लोगों ने पूछा, " प्रभु, हमें परम पिता परमेश्वर के दर्शन कराइये, " तो ईसा ने कहा, " जिसने मुझे देख लिया है, उसने उस परम पिता को भी देख लिया है। " उनके इस उत्तर का आप स्मरण करें। हम ईश्वर का केवल मानवीय भाव में ही दर्शन कर सकते हैं। हममें ऐसा कौन है जो ईश्वर की मानवातिरिक्त अन्य भाव में कल्पना कर सकता है। केवल मनुष्यरूप में, केवल मानवता के माध्यम से ही हम ईश्वर दर्शन कर सकते हैं। इस कमरे में सर्वत्र प्रकाश की किरणें वर्तमान हैं किन्तु हम उनका स्पन्दन देखने में क्यों असमर्थ हैं? केवल किसी दीप में ही हम उन्हें देख सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर भी सर्वव्यापी, निराकार व निर्गुण तत्व है, किन्तु हमारी प्रकृति ही ऐसी है कि हम केवल किसी नररूपधारी अवतार के माध्यम से ही उससे संयोग प्राप्त कर सकते हैं—साक्षात्कार कर सकते हैं। जब इन महान ज्योतिर्मय आत्माओं का विश्व में आविर्भाव होता है तभी मनुष्य को ईश्वर-साक्षात्कार होता है। और हम जिस रूप में विश्व में पदार्पण करते हैं, वे उस प्रकार विश्व में नहीं आते। हम विश्व में आते हैं भिक्षुकों व अकिञ्चनों की भाँति, दरिद्रों और कंगालों के रूप में,

पर उनका आगमन होता है सम्राटों की भाँति मानव-हृदय पर युगों तक राज्य करने। मातृपितृविहीन अनाथों से, भूले बटोहियों से, किंकर्तव्यविमूढ़ हो हम सब विश्व में भटकते रहते हैं। हम नहीं जानते हमारे जीवन का अर्थ व उद्देश्य क्या है! हमारे इस उद्देश्य-हीन जीवन में हम आज एक काम करते हैं और कल दूसरा। हम प्रवाह-पतित तिनकों की भाँति लहरों के थपेड़े खाते इधर उधर बहते जाते हैं तथा झंझा में उड़ते पंखों के समान अन्त में इतस्ततः गिर पड़ते हैं। किन्तु हमें दिखेगा कि मानवता के इतिहास में जो अवतार हुए हैं—उनका जीवन-व्रत प्रारम्भ से ही निश्चित रहा है। अपने जीवन का सारा नक्शा, सारी योजना उनकी आँखों के सामने थी, और उससे वे एक इंच भर भी न डिगे। इसका कारण यह है कि वे अपने जीवन में विश्व के लिये एक संदेश लेकर आये थे, उनके जीवन में एक लक्ष्य था, एक व्रत था। वे केवल उसे पूरा करना चाहते थे, उसके संबंध में तर्क-वितर्क करना नहीं। क्या तुमने ऐसे किसी पैगम्बर या अवतार के संबंध में सुना या पढ़ा है जिसने अपने उपदेशों को युक्ति का आधार दिया है? उनमें से किसी ने अपने विचार व कार्य की पुष्टि तर्क द्वारा नहीं की। और वे करते भी क्यों? वे तो सीधे शब्दों में सत्य को व्यक्त करना जानते हैं। उनमें सत्य के दर्शन करने की क्षमता है—और है उसे दूसरों को दिखाने का सामर्थ्य। यदि तुम मुझसे पूछो कि ईश्वर है या नहीं, और मैं कह दूँ कि हाँ, ईश्वर है, तो तुम झट से मुझे अपनी युक्तियाँ बताने के लिये बाध्य करोगे, और मुझ बेचारे को

कुछ युक्तियाँ पेश करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा देनी पड़ेगी। किन्तु यदि कोई ईसा से यही प्रश्न पूछता तो ईसा तत्काल उत्तर देते, " हाँ, ईश्वर है; " और यदि तुम ईसा से इसका प्रमाण माँगते, तो निश्चय ही ईसा ने कहा होता, " लो, यह ईश्वर तुम्हारे सम्मुख खड़ा है, दर्शन करलो। " इस प्रकार हम देखते हैं इन महापुरुषों की ईश्वर विषयक धारणा साक्षात् उपलब्धि, प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित है, तर्कजन्य नहीं। वे अंधकार में नहीं टटोलते हैं, उनके कथन में प्रत्यक्ष दर्शन का बल होता है। जब मैं इस मेज को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, तो फिर कोई भले ही शत शत युक्तियों द्वारा क्यों न चेष्टा करे, इस मेज के अस्तित्व में मेरा विश्वास नष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार ये महापुरुषगण भी अपने विश्वास पर अटल रहते हैं—क्योंकि वे ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, और इसलिये उन्हें अपने आदर्शों में, अपने ध्येय में और सर्वोपरि स्वयं में इतना ही अटल विश्वास व श्रद्धा है। इन दिव्य पुरुषों में जितना आत्मविश्वास है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं दिखता। लोग पूछते हैं—" क्या तुम ईश्वर में विश्वास रखते हो ? क्या तुम परलोक के अस्तित्व को मानते हो ? क्या इस मत में, या उस शास्त्रादेश में श्रद्धा रखते हो ? " किन्तु इन सब प्रश्नों के मूल में है—आत्मविश्वास का अभाव। जिसे अपने अस्तित्व में भी विश्वास नहीं है, उससे अन्य तत्वों में विश्वास रखने की आशा कैसे की जासकती है ? हम अपने अस्तित्व के विषय में भी तो निःसंशय नहीं हैं। कभी हम सोचते हैं हम नित्य व अमर हैं, कोई हमारा नाश नहीं कर सकता,

और दूसरे ही क्षण अपनी ही कल्पना का कोई भूत देखकर हम किंकर्तव्यविमूढ़ होजाते हैं, हमें यह भी ध्यान नहीं रहता कि हम क्या हैं, और कहाँ हैं, जीवित हैं या मृत हैं। कभी सोचते हैं कि हम खूब धार्मिक हैं, अत्यन्त चरित्रसम्पन्न व पवित्र हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण एक धक्का लगता है और हम चारों कोने चित हो जाते हैं। इसका कारण? कारण यही है कि हमारा आत्मविश्वास मर गया है, हमारी नैतिकता की रीढ़ टूट गई है।

मानवता के इन महान आचार्यों में तुम्हें यह एक चिह्न सर्वत्र दिखेगा कि उनमें प्रचण्ड आत्मविश्वास भरा है। इतना आत्मविश्वास असाधारण है, इसलिये हम उसे पूर्णतया नहीं समझ सकते। इसीलिये इन महापुरुषों के आत्मविषयक वचनों व कथनों की हम कई प्रकार से व्याख्या करते हैं व उनके साक्षात्कार, उनकी ईश्वरोपलब्धि के संबंध में सहस्रों कपोलकल्पित कहानियों का प्रचार करने लगते हैं। हम अपने विषय में उन महापुरुषों के समान नहीं सोच सकते, और इसीलिये, स्वाभाविकतया, हम उन्हें समझ भी नहीं पाते।

जब इन महापुरुषों के मुख से कोई शब्द निकलते हैं तो सारा विश्व बाध्य होकर उन्हें सुनता है। जब वे बोलते हैं, तो एक एक शब्द सीधे हृदय में प्रवेश करता है, वह बम के समान फूट पड़ता है और तुम्हारे कुसंस्कारों व दुष्परिग्रहों को भस्म करदेता है। निरी वाणी में क्या है यदि वाणी के पीछे वक्ता की प्रचण्ड शक्ति न हो? तो तुम किस भाषा में बोलते हो और किस प्रकार अपनी भाषा में शब्द-विन्यास करते हो — इससे किसीको क्या मतलब? तुम अच्छी,

लच्छेदार, ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हो या व्याकरण-सम्मत भाषा बोलते हो अथवा तुम्हारी भाषा अलंकार पूर्ण है या नहीं--इनसे भी किसी का क्या प्रयोजन ? प्रश्न तो है--तुम्हारे पास लोगों को देने के लिये कुछ है या नहीं ? यहाँ केवल कहानी-किस्से सुनने और सुनाने की बात नहीं है, बात है लेने और देने की, विचारों के आदान-प्रदान की। क्या तुम्हारे पास देने के लिये कुछ है ? यही पहला व मुख्य प्रश्न है। यदि है—तो दो। शब्द तो केवल तुम्हारी देन को लोगों तक पहुँचा देंगे, ये तो केवल एक माध्यम हैं। कई बार हम मौन रहकर भी अपने साथियों तक उन विचारों को भी पहुँचा देते हैं जिनका भार निरे शब्द वहन नहीं कर सकते। संस्कृत में एक श्लोक है :

चित्रं, वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोश्च मौनं व्याख्यानं, शिष्याश्च छिन्नसंशयाः॥

आश्चर्य ! इस वटवृक्ष के नीचे युवक गुरु व वृद्ध शिष्य आसीन हैं और गुरु के मौन शास्त्र-व्याख्यान से शिष्यों की शंकायें नष्ट हो गई हैं।

इस प्रकार कभी कभी शब्दों की सहायता के बिना भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सत्य का संचार हो जाता है। ये महा-पुरुष दुनिया के लिये एक सौगात, एक देन, एक भेंट लेकर आते हैं। ये ईश्वर के दूत हैं—ये उसका आदेश लेकर आते हैं---और हमारा काम है उसे शिरोधार्य करना। क्या तुम्हें याद नहीं, स्वयं ईसा ने तुम्हारे शास्त्रों में किस अधिकारपूर्ण वाणी से लोगों को आज्ञा

दी है : अतएव तुम जाओ, और दुनिया की तमाम कौमों को वह सब सिखाओ, जिसे मानने का मैंने तुम्हें हुक्म दिया है।" अपने संदेश में यह प्रचण्ड विश्वास और श्रद्धा ईसा की तमाम उक्तियों में देखी जाती है, और यही प्रबल विश्वास तुम्हें संसार के उन सब महापुरुषों की वाणी में मिलेगा, जिन्हें दुनिया पैगम्बरों और अवतारों के रूप में पूजती आ रही है।

मानवता के ये महान आचार्यजन पृथ्वी पर अवतीर्ण जीवन्त ईश्वर-स्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त हम और किनकी उपासना करें। मैं अपने मन में ईश्वर की धारणा करने का प्रयत्न करता हूँ और अन्त में पाता हूँ मेरी धारणा अत्यन्त क्षुद्र और मिथ्या है। इस प्रकार कल्पित ईश्वर की उपासना अधर्म है। तब मैं अपनी आँखें खोलकर देखता हूँ—पृथ्वी की इन महान आत्माओं के चरित्र को व उनकी लीलाओं को। ईश्वर विषयक मेरी उच्च—अति उच्च धारणा से भी वे उज्ज्वल और महान हैं। मेरे जैसा व्यक्ति, जो किसी चोर का पीछा कर, उसे पकड़ कर कारावास की यातनायें सहने के लिये बाध्य करता है, दया की क्या कल्पना—क्या धारणा करसकेगा? क्षमा दया–संबंधी मेरी उच्चतम कल्पना कहाँ तक पहुँच सकती है? मैं जितना दयाशील हूँ—क्षमाशील हूँ—वहीं तक मेरी क्षमा व दया की कल्पना पहुँच सकेगी। अपनी भौतिक सीमाओं को कौन लाँघ सकता है? अपनी मानसिक चहारदीवारी कौन पार कर सकता है? अपने स्वयं के क्षुद्र जीवन को आधार माने बिना, ईश्वरी प्रेम की हम क्या कल्पना कर सकते हैं? जिसका हमने कभी अनुभव ही

नहीं किया, उसकी कल्पना भला हम कैसे कर सकेंगे ! इसलिये अपने मन में ईश्वर की कल्पना व धारणा करने के मेरे सभी प्रयत्न व्यर्थ हैं। किन्तु इन महापुरुषों के जीवन की प्रत्यक्ष घटनायें हमारे सामने हैं, उनके दया, प्रेम व क्षमा से भरे वे कार्य हैं जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकेंगे। तब फिर क्या आश्चर्य है, यदि मैं इन महापुरुषों की चरण-वन्दना कर, उनके पदाम्बुजों में लुण्ठित हो, ईश्वर के रूप में उनकी अर्चना करूँ ? और कोई अन्य भी इसके अतिरिक्त और क्या करेगा ! मुझे कोई ऐसा व्यक्ति बताओ——जो कितना भी वाक्पटु होने पर भी, ऐसा करने से इनकार करदे। करने और कहने में बहुत भेद है। ईश्वर और निराकार, निर्गुण तत्व व प्रकृति आदि के विषय में जल्पना करना कठिन नहीं, और कोई करे तो मुझे आपत्ति नहीं, किन्तु ये नर-देव, ये मानवरूपधारी देवता, सदा से, सभी जातियों व सभी राष्ट्रों के यथार्थ में ईश्वर रहे हैं। ये सकल देव-मानव चिरकाल से पूजित होते रहे हैं, और तब तक पूजित होते रहेंगे जब तक मानव मानव बना रहेगा। उन्हीं को देख कर ' यथार्थ ईश्वर है, यथार्थ धर्म-जीवन है, आदि वाक्यों में हमारी श्रद्धा टिक सकी है, और ईश्वरोपलब्धि, धर्म-जीवन लाभ की हमारी आशा शेष रह सकी है। केवल अस्पष्ट, रहस्यमय तत्वविवेचना से क्या लाभ !

मेरे कथन का तात्पर्य मैं जो आपसे कहना चाहता हूँ——उसका उद्देश्य केवल यही है कि मैंने अपने जीवन में इन सब अवतारों की उपासना कर सकना संभव पाया है व भविष्य में होने-

वाले अनेक अवतारों की उपासना करने में प्रस्तुत हूँ। एक माँ अपने बच्चे को किसी भी वेश में पहिचान लेती है, और यदि कोई स्त्री यह नहीं कर सकती, तो यह निश्चय है कि वह उस बच्चे की माँ नहीं है! अतः तुममें से जो किसी विशेष अवतार में ही सत्य व ईश्वर की अभिव्यक्ति देखते हैं, उनके विषय में स्वाभाविकतया मेरा निष्कर्ष यही है कि वे ईश्वर को नहीं जानते। ऐसे व्यक्तियों ने केवल कुछ शब्द मात्र निगल लिये हैं, और जिस प्रकार राजनीति में व्यक्ति सत्यासत्य की चिन्ता न कर किसी एक दल का साथ देने लगते हैं, उसी प्रकार ऐसे व्यक्तियों ने एक सम्प्रदाय-विशेष को ही अपना सर्वस्व मान लिया है। पर यह धर्म नहीं है। संसार में ऐसे अँधे व मूढ़ भी कई हैं जो समीप में शुद्ध और मीठे पानी का कुँआ होने पर भी, खारे कुँए का ही पानी पीयेंगे, क्योंकि उस कुँए को उनके पूर्वजों ने खुदवाया था। अतएव, मैंने अपने अल्प अनुभव से यही सीखा है कि धर्म में जो दोष व त्रुटियाँ लोग देखते हैं, उनके लिये धर्म का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, उसमें धर्म का कोई दोष नहीं है। धर्म ने कभी मनुष्यों पर अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी, धर्म ने कभी स्त्रियों को चुड़ैल व डाइन कह कर जीवित जला देने का आदेश नहीं दिया, किसी धर्म ने कभी इस प्रकार अन्याय-पूर्ण कार्य करने की शिक्षा नहीं दी। तब लोगों को ये अत्याचार, ये अनाचार करने के लिये किसने उत्तेजित किया? कूटनीति ने—धर्म ने नहीं, और यदि इस प्रकार की कुटिल राजनीति धर्म का स्थान अपहरण करले, धर्म का नाम धारण करले—तो यह दोष किसका है?

इसलिये, जब एक व्यक्ति खड़ा होकर आह्वान करता है कि केवल मेरा पैगम्बर ही सच्चा है तो वह झूठ बोलता है—उसे अपने धर्म का 'क, ख' भी मालूम नहीं। धर्म न तो सिद्धान्तों की थोथी बकवास है, न मतमतान्तरों का प्रतिपादन व खण्डन है और न अन्यान्य के विचारों से बौद्धिक सहमति ही है। धर्म का अर्थ है—हर आत्मा में सत्य की उपलब्धि। धर्म का अर्थ है—ईश्वर का संस्पर्श प्राप्त करना, इस तत्व की प्रतीति करना—उपलब्धि करना कि मैं आत्मास्वरूप हूँ, और अनन्त परमात्मा व उसके अनेक अवतारों से मेरा युग युग का अच्छेद्य संबंध है। यदि तुमने यथार्थ में उस परम पिता के गृह में प्रवेश किया है तो अवश्य ही उसके पुत्रजन का दर्शन किया होगा। तब फिर यह क्यों कहते हो कि तुम उन्हें नहीं पहिचानते हो? और यदि तुम वास्तव में उन्हें नहीं पहचानते हो, तो यह सत्य है कि तुम ईश्वर के गृह में अब तक प्रवेश नहीं पा सके हो। जननी अपने वत्स को किसी भी वेश में पहचान लेती है; पुत्र का छद्मवेश उसकी आँखों को धोखा नहीं दे सकता। सभी युगों व सभी देशों के इन महान नर-नारियों को पहचानो, और यह ज्ञान प्राप्त करो कि उनमें परस्पर में कोई भेद, कोई अन्तर और पार्थक्य नहीं है। जहाँ कहीं भी सत्य धर्म की स्थापना हुई है—यह दिव्य ब्रह्म-संस्पर्श हुआ है, परमात्मा की आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष उपलब्धि हुई है, वहाँ व्यक्तियों का हृदय इतना विशाल व उदार बन गया है, कि वे देश व काल के बंधनों से मुक्त होकर

ईश्वर व उसके अवतारों की परम ज्योति का दर्शन सर्वत्र—सभी धर्मों व सभी देशों के अवतारों में करते हैं।

मुसलमान इस विषय में सर्वाधिक साम्प्रदायिक, संकीर्ण व पिछड़े हुये हैं। उनका मूलमंत्र है : दुनिया में एक ही खुदा है, और उसका एक ही पैगम्बर है। अतएव जो इस सिद्धान्त को नहीं मानते, जो वस्तुएँ इस सिद्धान्त की पोषक नहीं हैं, वे केवल खराब ही नहीं, समूल नष्ट करदेने योग्य हैं। जो व्यक्ति इसमें विश्वास नहीं करता उसे मौत के घाट उतार देना चाहिये, मस्जिदों के अतिरिक्त जो उपासनागृह हैं उन्हें जमींदोस्त करदेना चाहिये, कुरान का विरोध करनेवाली सारी पुस्तकों का अग्निसंस्कार करदेना चाहिये। केवल इसीलिये उन्होंने अपनी तलवारों से पूरी पाँच शताब्दियों तक, ऐटलान्टिक व प्रशान्त महासागर के मध्य में स्थित सारे भूमिखण्ड को रक्ताभिषेक कराया है। यह है इस्लाम। किन्तु इन खूँख्वार व कट्टर मुसलमानों में भी, जो कोई दार्शनिक प्रकृति की कुछ प्रबुद्ध आत्मायें थीं उन्होंने इन अत्याचारों का प्रतिवाद किया, उनके विरोध में अपनी आवाज़ उठाना अपना धर्म समझा। अपने इस उदार कार्य द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया कि उन्हें भी ब्रह्म-संस्पर्श-लाभ होगया है, सत्य के एक अंश की उपलब्धि होगई है। वे अपने धर्म से खिलवाड़ नहीं कर रहे थे, क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया था कि केवल उनके पूर्वजों का धर्म ही सत्य धर्म नहीं है, अपितु, सभी अवतार, सभी पैगम्बर व सभी धर्म एक हैं और सत्य हैं।

आजकल अर्वाचीन उत्क्रान्तिवाद के सिद्धान्त के साथ एक

और चीज़ भी देखने में आती है—यह है अपक्रान्तिवाद (Atavism)। धार्मिक क्षेत्र में—हममें प्राचीन सिद्धान्तों का आश्रय लेने की प्रवृत्ति जड़ पारही है। यह अत्यन्त घातक है। हमें किसी नई दिशा में विचार करने का प्रयत्न करना चाहिये, चाहे वह गलत ही क्यों न हो। निश्चेष्ट रहने की अपेक्षा तो यही श्रेयस्कर है। हम क्यों न लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करें? असफलताओं से ही ज्ञान का उदय होता है। अनन्त काल हमारे सम्मुख है—फिर हम हताश क्यों होवें! दीवाल को देखो। क्या वह कभी मिथ्या भाषण करती है? पर उसमें परिवर्तन भी कभी नहीं होता। मनुष्य मिथ्या भाषण करता है, किन्तु उसमें देवता बनने की भी क्षमता है। नर नारायण भी बन सकता है। इसलिये हमें सदैव क्रियाशलि—प्रयत्नशील बने रहना चाहिये। कोई परवाह नहीं यदि हम गलत रास्ते पर जा रहे हों. कुछ न करने से तो यह अच्छा ही है। गाय कभी झूठ नहीं बोलती —पर वह सदैव गाय ही बनी रहती है। इसलिये क्रियाशील बनो, कुछ न कुछ करते रहो; नये विचारों को जन्म दो। हमारे पूर्वजों ने इस दिशा में कोई विचार नहीं किया, इसीलिये क्या हम भी घुटनों पर माथा टेककर बैठे रहें और अपनी चेतना व विचारशक्ति खो दें इस अवस्था से तो मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है। जीवन का मूल्य ही क्या रहा, यदि हमारे अपने कुछ विचार, हमारी अपनी कुछ जीवन्त धारणायें न हों? नास्तिक जन भी हमसे कहीं अच्छे हैं, उनसे कुछ आशायें रखी जा सकती हैं, क्योंकि दूसरों से उनका मतभेद होने पर भी, वे कम से कम खुद कुछ विचार करते हैं। जो स्वयं

अपने लिये विचार नहीं करते, वे कभी धार्मिक नहीं कहे जा सकते, कदापि धर्म-राज्य में उनका प्रवेश न हो पायेगा। वे जेली-फिश * के समान केवल नाममात्र के लिये जीवित हैं। जो व्यक्ति स्वयं विचार नहीं करते, वे वास्तव में धर्म का कोई आदर नहीं करते, केवल दंभ भरते हैं। किन्तु अविश्वासी नास्तिक की विचार-धारा सदैव नई दिशा में प्रवाहित होती रहती है। वह जिज्ञासु और यत्नशील है, अतएव वह धर्म की परवाह भी करता है। इसलिये जागो और सोचो। प्राणपण से प्रयत्न कर ईश्वराभिमुख गमन करो। असफलता की चिन्ता न करो; यदि इस प्रकार विचार करते करते तुम किसी विचित्र सिद्धान्त व मत का अनुसरण करने लगो तो भी क्या? यदि तुम्हें भय है कि लोग तुम्हें विचित्र और अजीब कहने लगेंगे, तो अपने सिद्धान्त को अपने तक ही सीमित रखो। दूसरों में उसका प्रचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु चुपचाप मत बैठो, कुछ करो। ईश्वर की ओर यत्नपूर्वक बढ़ो। एक दिन अवश्य तुम्हें प्रकाश के दर्शन होंगे—एक दिन अवश्य तुम्हारे अंधकारपूरित हृदय में ज्ञान की किरणों का प्रकाश पहुँचेगा। यदि कोई आदमी रोज रोज अपने हाथ से मुझे भोजन कराता रहे, तो कुछ ही दिनों में मेरे हाथ बेकार होजायेंगे। भेड़ों की तरह एक दूसरे के पीछे चलने से, आध्यात्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है। निश्चेष्टता ही मृत्यु है। अतएव कार्यशील बनो, और जहाँ क्रियाशीलता है वहाँ विभिन्नता भी होगी। विभिन्नता ही जीवन का रस है, विभिन्नता

* जेली–फिश (Jelly-Fish) एक प्रकार की मछली है जो दिखने में जेली या मुरब्बे के समान है।

में ही जीवन का लावण्य है। यही कला का प्राण है, यही जीवन का चिह्न है, यही जीवन-प्रवाह का मूलस्रोत है। फिर इसका भय क्यों?

अब हम इन महापुरुषों का चरित कुछ समझ सकेंगे। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जहाँ जहाँ यथार्थ में कुछ चिन्तन किया गया है—ईश्वर के प्रति प्रेम व भक्ति की भाव-सरिता प्रवाहित हुई है, वहीं आत्मोद्धार हुआ है, आत्मा ईश्वर की ओर अग्रसर हुई है और उसे क्षण भर के लिये जीवन में एक ही बार क्यों न हो, सत्य का साक्षात्कार हुआ है। उस समय—

" भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

अर्थात् " हृदय के कुटिल भावों का नाश होजाता है, सारी शंकायें दूर होजाती हैं व कर्मों का क्षय होजाता है, क्योंकि उस समय उस परम तत्व के दर्शन होजाते हैं जो दूर से भी दूरतम व निकट से भी निकटतम है।" यही यथार्थ धर्म है, यही धर्म का सार है, इसके अतिरिक्त अन्य सारी वस्तुएँ केवल मतमतान्तर मात्र हैं, कोरे सिद्धान्त हैं, उस परम अवस्था तक पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग हैं। हम इस अवस्था को, धर्म के इस आदर्श को भूल गये हैं और केवल उसके बाह्य स्वरूप को लेकर झगड़ रहे हैं। टोकनी के फल तो कीचड़ में पड़ गये हैं, और हम उसे ही सारे झगड़ों का विषय बना बैठे हैं।

धर्म पर विवाद करने वाले लोगों से ज़रा यह पूछकर देखिये, 'क्या तुमने ईश्वर को देखा है? क्या तुमने वे सारी वस्तुएँ देखी हैं जिनके लिये तुम झगड़ रहे हो?' एक व्यक्ति कहता है—'ईसा मसीह

ही सच्चा पैगम्बर है।' ठीक है। पर उससे पूछो, 'क्या तुमने ईसा को कभी देखा है? क्या तुम्हारे पिता ने कभी ईसा को देखा था?' 'नहीं।' 'क्या तुम्हारे पितृगण, तुम्हारे पूर्वजों ने ईसा को देखा था?' 'नहीं।' 'क्या तुमने कभी ईसा को देखा है?' 'नहीं।' तब तुम विवाद किस बात पर कर रहे हो? फल तो जमीन पर गिर गये हैं, और तुम टोकनी को लेकर विवाद कर रहे हो। समझदारों और सभ्य स्त्री-पुरुषों को इस प्रकार झगड़ते हुए शर्म आनी चाहिये।

ये पैगम्बर व ईशदूत यथार्थ में महान और सच्चे थे। क्यों? क्योंकि उनमें से हरएक ने अपने जीवन-काल में एक एक महान सिद्धान्त का प्रचार किया है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष के महान अवतारों को ही लीजिये। ये धर्म के सर्वप्रथम संस्थापक और प्रचारक हैं। पहले हम श्रीकृष्ण का ही जीवन लें। आपमें से जो गीता के पाठक हैं, वे जानते हैं कि उस ग्रन्थ का मूल सिद्धान्त है अनासक्ति, उसकी मुख्य शिक्षा है अनासक्त रहो। तुम्हारे हृदय के प्रेम पर केवल एक व्यक्ति का अधिकार है—केवल उसका अधिकार है जो अविकारी और अव्ययी है। वह कौन है? वह केवल ईश्वर ही हो सकता है। इसलिये अपना हृदय किसी परिणामशील, परिवर्तनीय और क्षणभंगुर वस्तु को समर्पित मत करो, इसका अन्त दुःखमय होगा। यदि तुम किसी व्यक्तिविशेष को अपना हृदय अर्पित कर देते हो, तो उसकी मृत्यु के पश्चात् सारा संसार तुम्हारे लिये दुःखपूर्ण बन जायगा।

आज जिसे अपना अभिन्न मानकर तुम हृदय समर्पित कर

चुके हो, संभव है कल उसीसे तुम्हारा वैमनस्य होजाय। जिस पति को तुमने अपना हृदयेश्वर मानकर अपना स्नेह अर्पित किया है, उसे तुमसे उपरति होजाने पर तुम्हें सिसकियाँ भर भर कर क्रन्दन करना पड़ेगा। जिस पत्नी को तुमने अपने हृदय-सिंहासन की रानी बनाली है, उसकी मृत्यु होजाने पर तुम्हारे सुखों का संसार धूळ में मिळ जायगा। यही संसार की रीति है। ये पार्थिव सुख क्षणभंगुर हैं, स्वप्नों से अचिर हैं। इसलिये श्रीकृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है—एकमात्र ईश्वर ही अविकारी और अपरिणामी है। उसका स्नेह अनन्त आर अपरिवर्तनीय है। हम कहीं भी रहें, और कुछ भी करें, पर उस दयानिधि की दया में कोई अन्तर नहीं आता, उसके स्नेह की सरिता सदैव उसी प्रकार हमारे लिये प्रवाहित होती रहेगी। उसमें कभी परि-वर्तन नहीं होता, हमारे अधम कार्यों पर भी वह कभी क्रुद्ध नहीं होता। और वह हम पर क्रुद्ध हो भी तो क्यों ? तुम्हारा नटखट बच्चा कितनी भी शरारत क्यों न करता हो, पर तुम उस पर कभी नहीं बिगड़ते। क्या ईश्वर हमारी भावी गरिमा नहीं जानता? उसे ज्ञात है कि यथाकाल हम सब पूर्णता प्राप्त करलेंगे। उसका धैर्य असीम है। इसलिये हमें उसे प्रेम करना चाहिये, प्राणि-मात्र को उसको प्रभा का प्रकाश मान कर स्नेहशील बनना चाहिये। यही गीता की शिक्षा का सार है और इसी को अपने जीवन का गुरुमन्त्र मानना चाहिये। अपनी पत्नी को तुम अपने हृदय में स्थान दो, अवश्य दो—पर स्त्री के रूप में नहीं। 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।' बृहदारण्यक के इस महान वाक्य को

समझो। 'हे प्रिये, पत्नी को पति प्रिय लगता है, किन्तु वह पति के रूप में नहीं। उसका कारण है उसमें वर्तमान अनन्त ब्रह्म की ज्योति का एक कण, परमेश्वर की प्रभा का एक अंश।' वेदान्तदर्शन कहता है कि पति-पत्नी के स्नेह-भाव व माता के वात्सल्य में भी यद्यपि पत्नी सोचती है कि वह अपने स्वामी को प्रेम कर रही है, और माँ समझती है कि वह अपने शिशु से स्नेह कर रही है, वस्तुतः इन दोनों के स्नेह का विषय ईश्वर का वह अंश ही है जो पति व पुत्र दोनों में अवस्थित है। वही एकमेव आकर्षण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई उनका स्नेह-भाजन नहीं है। पत्नी और जननी अज्ञानवश नहीं जानतीं कि अपने पति व पुत्र से स्नेह करने में वे केवल ईश्वर को ही प्यार कर रही हैं, और यह अज्ञान ही भविष्य में उनके दुःख का कारण बन जाता है। ज्ञान-पूर्वक किये जाने पर यही कार्य मुक्ति का मार्ग बन जाता है। यही हमारे शास्त्रों का उपदेश है। जहाँ भी प्रेम है, आनन्द का एक बिंदु भी वर्तमान है, वहीं ईश्वर वर्तमान है; क्योंकि ईश्वर आनन्दमय है, ईश्वर स्वयं स्नेह और कल्याण-स्वरूप है। उसके अभाव में प्रेम और आनन्द असंभव हैं।

श्रीकृष्ण के उपदेशों का यही भाव है। सारे भारतवर्ष पर, सारी हिन्दू-जाति पर श्रीकृष्ण ने इस उपदेश की एक अमिट छाप छोड़ दी है। वह उसकी नस नस में प्रवाहित हो रहा है—जब कोई हिन्दू कोई कार्य करता है, यहाँतक कि जब वह पानी भी पीता है तो कहता है, "इस कार्य के सभी शुभ फल ईश्वरार्पित हैं।" किसी कार्य को करते समय, एक बौद्ध यही संकल्प करता है कि

"इस कार्य के सारे शुभ फल संसार को प्राप्त हों, और जगत के दुःख व कष्ट मुझे मिलें।" हिन्दू कहता है, "मैं आस्तिक हूँ, ईश्वरविश्वासी हूँ, और ईश्वर सर्व-शक्तिमान है, सकल आत्माओं की अन्तरात्मा है। इसलिये यदि मैं अपने कार्यों का पुण्य, उनके शुभ फल ईश्वरार्पण कर दूँ, तो यह सर्व-श्रेष्ठ त्याग होगा—क्योंकि अन्ततोगत्वा मेरे सत्कार्य, मेरे कार्यों के शुभ फल निश्चित ही सारे संसार को प्राप्त होंगे।

भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों का यह केवल एक पहलू है। उसकी दूसरी महान शिक्षा यह है : संसार में रह कर जो व्यक्ति कार्य करता है और अपने कार्यों के शुभाशुभ फल ईश्वरार्पित करदेता है, वह संसार के पापों से अलिप्त रहता है। जिस भाँति जलज जल में जन्म लेकर भी, जल से अलिप्त रहता है, उसी भाँति ऐसा व्यक्ति भी साँसारिक कर्मों को करते हुये भी, उन्हें ईश्वर को समर्पित कर देने पर, दोष-लिप्त नहीं होता।

प्रबल कर्मशीलता, श्रीकृष्ण की एक और महान शिक्षा है। गीता का उपदेश है—कार्य-रत रहो। रात्रन्दिवस कार्य करते रहो।

स्वाभाविक ही यह शंका उपस्थित होगी कि निरन्तर कर्म से शान्ति कैसे उपलब्ध होगी? यदि मनुष्य दिवारात्र, आमरण अश्व की भाँति जीवन की गाड़ी खींचता रहे, और उसे खींचते खींचते ही इहलीला समाप्त करदे, तो मानव-जीवन का अर्थ और उद्देश्य तथा मानव-जीवन का मूल्य ही क्या रहा? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—नहीं, कर्म-रत व्यक्ति अवश्य शान्ति का अधिकारी बनेगा। कार्य-क्षेत्र से पलायन करना शान्ति का पथ नहीं है। यदि संभव हो तो अपने कर्तव्य-

कर्म छोड़ दो व किसी पर्वत-शिखर पर जीवन-यापन करो; किन्तु वहाँ भी मन स्थिर नहीं रहेगा, वहाँ भी वह यंत्रवत् भ्रमण करता रहेगा। किसी ने एक बार एक संन्यासी से पूछा था, "आप क्या कोई एकान्त निरुपद्रव स्थान ढूँढ़ने में सफल हो सके हैं ? आप कितने वर्षों से हिमालय की मनोरम घाटियों में भ्रमण कर रहे हैं ?" संन्यासी बोले, "चालीस वर्षों से।" तब उस व्यक्ति ने पुनः जिज्ञासा की, "भगवन्, हिमालय में तो निवास करने के लिये अनेक नितान्त सुन्दर स्थल हैं, तब अब तक आपने क्यों नहीं किसी स्थान का निर्वाचन किया ?" संन्यासी बोले, "वत्स, इन पूरे चालीस वर्षों में, जब तक मैं हिमालय में वास करता रहा, मेरे मन ने मुझे एक बार भी ऐसा करने की अनुमति नहीं दी।" हम सब भी इसी प्रकार आजीवन शान्ति की शोध में लगे रहते हैं, सभी मन में शान्ति लाभ करने का संकल्प करते हैं, पर हमारा मन हमें शान्ति नहीं लेने देता।

हम सब उस सैनिक की कहानी जानते हैं जिसने एक बार एक तातार को पकड़ लिया था। एक सैनिक नगर से लौटकर जब शिबिर के समीप आया तो ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लगा : "मैंने एक तातार को कैद करलिया है, मैंने एक तातार को कैद करलिया है।" शिबिर में से कोई बोला, "उसे भीतर ले आओ।" सैनिक ने कहा, "वह भीतर नहीं आता।" दूसरे सैनिक ने कहा, "तब तुम्हीं भीतर आजाओ।" पहिला सैनिक बोला, "वह मुझे भी भीतर नहीं आने देता।" हम सब ने उस सैनिक की भाँति अपने अपने मन में एक एक 'तातार' पकड़ लिया है, और न तो हम स्वयं ही

उसे वश में कर सकते हैं और न वह 'तातार' ही हमें शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करने देता है। हमारी दशा भी उस सैनिक की भाँति होगई है। हम सब शान्त और स्थिर होने का संकल्प करते हैं। किन्तु यह तो एक शिशु भी कह सकता है और मन में सोच सकता है कि वह सफल हो जायगा। वस्तुस्थिति में इस में कृतकार्य होना अत्यन्त कठिन है। मैंने भी ऐसा प्रयत्न किया है। मैं अपने कर्तव्यकर्मों को एकदम ही त्याग कर पर्वत-शिखरों की ओर प्रस्थान कर गया। मैं गहन गुहाओं व निबिड़ वनों में निवास करता रहा। पर व्यर्थ, क्योंकि मैंने भी एक 'तातार' पकड़ लिया था। मेरे विचारों का संसार सर्वत्र और सर्वदा मेरे साथ साथ चल रहा था। यह 'तातार' हमारे ही मन में निवास करता है, इसलिये हमें अन्य व्यक्तियों पर अपनी शान्ति भंग करने का दोषारोपण नहीं करना चाहिये। हम अपनी बाह्य परिस्थितियों को दोष देकर कहते हैं—ये परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, ये विपरीत हैं। पर हम भूल जाते हैं कि इस सब का कारण है वह 'तातार' जो हमारे ही मानस में निवास करता है, और उसे वशीभूत कर लेने पर सब ठीक हो जायगा।

इसलिये श्रीकृष्ण की शिक्षा है कि अपने कर्तव्य-कर्म त्याग कर मत भागो, उनकी उपेक्षा न करो; मनुष्य की भाँति उन्हें पूर्ण करने का यत्न करो व उनके फलाफल की चिन्ता न करो। सेवक को 'क्यों' कहने का क्या अधिकार है? सैनिक को तर्क-वितर्क करने का अधिकार नहीं। कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होते जाओ, और इस बात की चिन्ता न करो कि तुम्हारा कर्तव्य-कर्म बड़ा है या

छोटा। केवल अपने मन से पूछो कि वह निःस्वार्थ भाव से कार्य कर रहा है या नहीं। यदि तुम यथार्थ में निस्पृह हो, तो किसी बात की परवाह न करो, विश्व में कोई भी तुम्हारा पथावरोध नहीं कर पायेगा। अपने कर्तव्य में अपने को डुबा दो—जो काम हाथ में आजाय उसे करते जाओ। जब तुम इस प्रकार कर्तव्य-रत हो जाओगे तो शनैः शनैः तुम्हें गीता के इस महान सत्य की प्रतीति होने लगेगी:—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ॥

अर्थात् "जो प्रबल कर्मशीलता में शान्ति अनुभव करता है व प्रबल निस्तब्धता व शान्ति में कर्मशीलता का दर्शन करता है, वही पूर्ण है, वही योगी है, वही विद्वान है, वही सिद्ध है।"

अब तुम देखोगे कि श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार संसार के सभी कर्तव्य-कर्म पवित्र हैं। ऐसा कोई काम नहीं है जिसे निकृष्ट कहा जाय। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार तो सिंहासनोपविष्ट सम्राट और सामान्य जन के कर्तव्यों का महत्व भी समान है।

अब गौतम बुद्ध के महान संदेश को सुनिये। अनायास ही "उनकी महान वाणी हृदय में घर कर लेती है। बुद्ध ने कहा है: अपनी स्वार्थपूर्ण भावनाओं का परिमूलन करदो, स्वार्थपरता की ओर लेजानी वाली सारी वस्तुएँ नष्ट करदो। स्त्री-पुत्र-परिवार से संबंध विच्छेद करदो। सांसारिक प्रपंचों से दूर रहो व स्वार्थशून्य बनो।"

संसारी व्यक्ति मन ही मन निस्पृह बनने का संकल्प करता रहता है, किन्तु पत्नी-मुख अवलोकन करते ही उसका हृदय स्वार्थ से भरजाता है। माँ स्वार्थ-शून्य बनने की इच्छा करती है, पर पुत्र का मुखावलोकन करते ही, उसके ये भाव लुप्त होजाते हैं। सब की यही दशा है। ज्यों ही हृदय में स्वार्थपूर्ण कामनाओं का उदय होता है, ज्यों ही व्यक्ति स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से कार्य प्रारंभ करता है, त्यों ही उसका मनुष्यत्व, उसका वह गुणविशेष जिसके बल पर वह स्वयं को मनुष्य कह सकता है, लुप्त होजाता है; तब वह पशु बन जाता है, वासनाओं का क्रीत दास बन जाता है। उसे विस्मरण होजाता है अपने बांधवों का और अब वह कभी नहीं कहता कि 'पहले आप और बाद में मैं।' अब उसके मुँह से निकलने लगता है 'पहले मैं और मेरे बाद सब अपना अपना प्रबंध करलें।'

हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण की शिक्षा का हमारे जीवन में कितना महत्व है। बिना इस संदेश को हृदय में धारण किये, संसार में क्षण भर भी अकपट भाव से व सानन्द कर्तव्य रत रहना असंभव हो जायगा। कर्तव्य-पथ पर अग्रसर पुरुष को श्रीकृष्ण के उपदेश का एक एक शब्द निर्भीक बनाता रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

"कर्तव्य-कर्म में कोई दोष होने पर भी उन्हें त्याग नहीं देना चाहिये क्योंकि संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो सर्वथा दोष-मुक्त हो।"

श्रीकृष्ण का उपदेशानुगामी कर्मयोगी अपने कर्मों के फलों के भय से पथविचलित नहीं होता। वह तो अपने कर्मों के फल ईश्वर को समर्पित करदेता है, तब उसे भय क्या ?

" ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति य: "
" अपने कर्मों को ईश्वर को समर्पित करदो व उनके फलों की चिन्ता न करो।"

दूसरी ओर भगवान बुद्ध की अमृतमयी वाणी भी कम हृदयग्राहिणी नहीं है। ऐसा कौन पाषाणहृदय है जो बुद्ध की इस वचनावली से प्रभावित न होगा ? जग क्षण-भंगुर व दु:खमय है। समय तीव्र गति से व्यतीत होता जारहा है। अपने आमोद-पूर्ण जीवन से सन्तुष्ट, अपने सुन्दर प्रासादों में मनोरम वस्त्राभूषणों से विभूषित हो, अनेकविध भोज्यपदार्थों से अपनी जिह्वा को तुष्ट करने वालो—हे मोहनिद्राभिभूत नर-नारियो, क्या जीवन में तुमने कभी दाने दाने के लिये मुहताज उन लक्ष लक्ष नर-कंकालों की भी कोई चिन्ता की है जो भूख से तड़फ तड़फ कर दम तोड़ देते हैं ? ज़रा सोचो, जगत के इस महासत्य पर विचार करो, सर्वं दु:खमनित्यमध्रुवम्—संसार में चारों ओर दु:ख ही दु:ख है। देखो, संसार में पदार्पण करता हुआ शिशु भी वेदनापूर्ण रुदन करने लगता है। यह एक हृदय-विदारक सत्य है। इस दु:खमय जगत में जन्म लेते ही शिशु क्रन्दन करने लगता है। संसार में रुदन के सिवा है क्या ? संसार एक रुदन-स्थल है। इसलिये तथागत के शब्दों को सुनो और स्वार्थ-शून्य बनो।

अब तनिक नाजरथनिवासी ईश-दूत ईसा के उपदेशों को

देखिए। उनकी शिक्षा है, "प्रस्तुत रहो, स्वर्गराज्य अत्यन्त समीप है।" मैंने श्रीकृष्ण के उपदेशों का मनन किया है; म अनासक्त होकर कर्म-मार्ग पर अग्रसर होने का यत्न भी करता हूँ, किन्तु कभी कभी इन उपदेशों को भूलकर मैं मोहाभिभूत होजाता हूँ। तब इस मोहनिद्रा में हठात् मुझे तथागत की अमृतमयी वाणी का स्मरण हो उठता है—"सावधान ! संसार के सकल पदार्थ नश्वर ह। संसार दुःखमय है। सर्वं दुःखमनित्यमध्रुवम्।" मैं सुनकर कुछ सँभलता हूँ—पर मेरे हृदय में यह विवाद उठ खड़ा होता है कि मैं कृष्ण और बुद्ध में से किसका अनुगमन करूँ। तब मेरे कानों में ईसा की यह महान घोषणा गूँजने लगती है, "प्रस्तुत रहो, स्वर्ग-राज्य अत्यन्त समीप है।" एक क्षण का भी विलम्ब न होने दो। कल पर कुछ न छोड़ो और उस महान व परम अवस्था के लिये सदा प्रस्तुत रहो, वह तुम्हारे निकट किसी भी क्षण उपस्थित हो सकती है। ईसा के इस संदेश का भी मानव-हृदय में उच्च स्थान है। हम आदरपूर्वक इस उपदेश को शिरोधार्य करते हैं—और प्रणाम करते हैं उस महान अवतार को, ईश्वर के उस विग्रह-रूप को जिसने दो सहस्र वर्ष पूर्व मानवजाति को प्रेम व सदाचार की शिक्षा दी थी।

इसके पश्चात् हमारी दृष्टि समानता के उस महान संदेश-वाहक पैगम्बर मुहम्मदसाहब की ओर जाती है। शायद तुम पूछोगे कि उनके धर्म में क्या अच्छाई है? पर यदि उसमें अच्छाई न होती तो वह अद्यापि जीवित कैसे रह पाता? जो अच्छा है, कल्याणकर है वही इस संसार में जीवित रह सकता है, शेष सब कुछ विनाश के

अनन्त गह्वर में प्रवेश करजाता है। जो कल्याणकर है, वही सबल और दृढ़ है, और इसलिये वही अनन्त जीवन का भी अधिकारी होता है। इस जीवन में भी, अपवित्र और दुराचारी का जीवनकाल कितना होता है? क्या सदाचारी व्यक्ति उससे दीर्घायु नहीं होता? निश्चित, क्योंकि सदाचरिता ही शक्ति है, पवित्रता ही बल है। यदि इस्लाम में कोई अच्छाई, कोई शुचिता न होती तो वह आज तक जीवित कैसे रह पाता? नहीं, इस्लाम में यथेष्ट अच्छाई है। पैगम्बर मुहम्मदसाहब दुनिया में समता, बराबरी के संदेश-वाहक थे—वे मानव-जाति में, मुसलमानों में, भ्रातृ-भाव के प्रचारक थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर अवतार, हर पैगम्बर ने दुनिया को एक न एक महान संदेश दिया है। जब हम उस संदेश का मनन करते हैं, और तत्पश्चात् उसके प्रचारक महापुरुष की जीवनी का अवलोकन करते हैं तो उस सत्य के प्रकाश में उसका सारा जीवन व्याख्यात दिखाई पड़ता है। महापुरुषों के ये शब्द उनके जीवन की सब से बड़ी व्याख्या हैं, उनके प्रकाश में उनके जीवन की एक एक घटना का महत्व प्रकट होने लगता है।

अज्ञ व बुद्धिहीन व्यक्ति अनेकविध मतमतान्तरों की कल्पना करते हैं और अपनी अविकसित मोटी बुद्धि के अनुसार, अपने अपरिपक्व भावों का समर्थन करनेवाली कई व्याख्यायें आविष्कृत कर इन महापुरुषों पर आरोपित कर देते हैं। उनकी महान शिक्षाओं को लेकर वे उन पर अपने मतानुसार भ्रान्त व्याख्यायें करने लगते हैं। किन्तु हरएक महापुरुष की जीवनी ही उसके उपदेशों का एकमात्र

भाष्य है। किसी भी महान आचार्य के जीवन का अवलोकन करो, उसके कार्य उसके उपदेशों का अर्थ स्पष्ट करने लगते हैं। गीता को ही पढ़ कर देखो, तुम्हें कृष्ण के जीवन व गीता के एक एक शब्द में सामञ्जस्य दिखेगा।

पैगम्बर मुहम्मदसाहब ने अपने जीवन के दृष्टान्त से यह दिखला दिया कि मुसलमान-मात्र में सम्पूर्ण साम्य व भ्रातृभाव रहना चाहिये। उनके धर्म में जाति, मतामत, वर्ण, लिङ्ग आदि पर आधारित भेदों के लिये कोई स्थान न था। तुर्किस्तान का सुल्तान आफ्रिका के बाजार से एक हब्शी गुलाम खरीद कर उसे शृङ्खलाबद्ध कर अपने देश में ला सकता है। किन्तु यदि यही गुलाम इस्लाम को अपनाले, और उपयुक्त गुणों से विभूषित हो, तो उसे तुर्की की शाहजादी से निकाह करने का भी हक़ मिलजाता है। मुसलमानों की इस उदारता के साथ ज़रा इस देश (अमेरिका) में हब्शियों (निग्रो) व रेड इंण्डियन लोगों के प्रति किये जाने वाले घृणापूर्ण व्यवहार की तुलना तो कीजिये! हिन्दू भी और क्या करते हैं? यदि आप के देश का कोई धर्मप्रचारक (मिशनरी) भूलकर किसी 'सनातनी' हिन्दू के भोजन को स्पर्श करले, तो वह उसे अशुद्ध कह कर फेंक देगा। हमारा दर्शन उच्च और उदार होते हुए भी, हमारा व्यवहार, हमारा आचार हमारी कितनी दुर्बलता का परिचायक है! किन्तु अन्य धर्मावलम्बियों की तुलना में हम इस दिशा में मुसलमानों को अत्यन्त प्रगतिशील पाते हैं। जाति या वर्ण का

विचार न कर, सब के प्रति समान भाव—बंधुभाव का प्रदर्शन—यही इस्लाम की महत्ता है, इसी में उसकी श्रेष्ठता है।

क्या संसार में और अवतार पुरुष जन्म-ग्रहण कर पृथ्वीतल को पवित्र करेंगे? निश्चित अन्य व श्रेष्ठतर महापुरुष धरा पर अवतीर्ण होंगे। किन्तु उनके आगमन की प्रतीक्षा में मत बैठे रहो। मैं तो यह पसंद करूँगा कि आप में से हरएक व्यक्ति इस यथार्थ नवसंहिता—सब ओल्ड टेस्टामेंट्स की समष्टि स्वरूप इस सच्चे न्यू टेस्टामेंट के आचार्य बनें। सभी प्राचीन संदेशों का संकलन कर, उन्हें अपनी अनुभूति, अपनी उपलब्धि के योग से पूर्ण बनालो और इस अंधकाराच्छन्न युग के, इस त्रस्त मानवता के मसीहा बन जाओ। ये सभी अवतार महान हैं, प्रत्येक ने हमारे लिये कुछ न कुछ वसीयत छोड़ी है, वे हमारे ईश्वर हैं। हम उनके चरणों में प्रणाम करते हैं, हम उनके क्षुद्र किंकर हैं। किन्तु इसके साथ साथ हम स्वयं को भी नमस्कार करते हैं, क्योंकि यदि वे ईश्वरतनय और अवतार हैं—तो हम भी वही हैं। उन्होंने अपनी पूर्णता कुछ पहले प्राप्त करली है और हम अबभी केवल पूर्णता के पथ पर ही हैं। किन्तु ईसा के शब्दों का स्मरण करो; स्वर्गराज्य निकट ही है। कौन जानता है किस क्षण हम उस परमावस्था को प्राप्त करलें। इसलिये इसी क्षण हम सब को यह दृढ़ संकल्प करलेना चाहिये कि "मैं पैगम्बर बनूँगा; मानवता का मसीहा बनूँगा; मैं ज्योति का संदेशवाहक बनूँगा—मैं ईश्वर-तनय बनूँगा—नहीं मैं स्वयं ईश्वरस्वरूप बनूँगा।"

---

६. ईशदूत ईसा

सागर में एक ओर जहाँ उत्तुङ्ग तरंगों का नर्तन होता है दूसरी ओर एक अथाह खाई भी होती है। उच्च तरंग उठती है और विलीन होती है। फिर एक प्रबलतर तरंग उठती है, मुहूर्त-मात्र में उसका पतन होता है और पुनः उत्थान भी। इसी प्रकार तरंग पर तरंग सागर के वक्ष पर अग्रसर होती रहती है। विश्व के घटना-प्रवाह में भी निरन्तर इसी प्रकार का उत्थान और पतन होता रहता है किन्तु हमारा ध्यान केवल उत्थान की ओर जाता है, पतन का विस्मरण होजाता है। पर विश्व की गति के लिये दोनों ही आवश्यक हैं—दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। यही विश्व-प्रवाह की रीति है।

हमारे मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जगत में, सर्वत्र यही क्रम-गति, यही उत्थान-पतन चल रहा है। उसी प्रकार विश्वप्रवाह में उच्चतम कार्य, उदार आदर्श, समय समय पर जन्म लेते हैं, व जनसमूह की दृष्टि आकर्षित कर विलीन होजाते हैं, मानो वे अतीत के भावों का परिपाक कर रहे हों—मानो प्राचीन आदर्शों का रोमन्थन करने को वे अदृश्य होगये हों, जिससे ये भाव-समूह, ये आदर्श, समाज में अपना योग्य स्थान पा लें, समाज के एक एक अंग के रुधिरबिन्दु में उनका प्रवेश होजाय, पुनः एक प्रबल और उच्चतर उत्थान के लिये शक्तिसंचय करलें।

दुनिया के राष्ट्रों के इतिहास में भी यही गति दृग्गोचर होती

है। इस ज्योतिर्मय आत्मा का, इस ईशदूत का, जिसकी जीवन-गाथा पर आज विवेचन किया जायगा, अपनी जाति के इतिहास के एक ऐसे युग में आविर्भाव हुआ था जिसे पतन-काल कहने में अत्युक्ति न होगी। उनके उपदेश और कार्यकलाप के किञ्चित् लिपिबद्ध विवेचनों की हमें यत्र तत्र कुछ झलक मात्र ही मिलती है; यह सच ही कहा गया है कि उस महापुरुष के उपदेश और कर्मवीरता की सब गाथायें लिपिबद्ध होने पर, सारा विश्व उनसे व्याप्त हो जायगा। उनके धर्म-प्रचार-काल के तीन ही वर्षो में मानो एक पूर्ण युग की घटनायें एवं उसका इतिहास सूक्ष्मरूप से निहित था, जिसके प्रकट होने—स्थूलरूप धारण करने में पूरी उन्नीस शताब्दियाँ लग गई हैं, और न जाने ओर कितने वर्ष लगेंगे। मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जन केवल क्षुद्र शक्ति के आधार हैं। कुछ क्षण, कुछ घटिकायें, कतिपय मास, ज्यादा से ज्यादा कुछ वर्ष बस—ये उस क्षुद्र शक्ति के व्यय के लिये, उसके पूर्ण प्रसरण और अधिकतम विकास के लिये पर्याप्त हैं और उसके बाद हम पुन: उस अनन्त शक्ति-स्रोत में विलीन होजाते हैं। किन्तु इस विशाल शक्ति-पुञ्ज को देखिये। शताब्दियों और सहस्राब्दों के बीतने पर भी, उसकी महान शक्ति पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हो पाई है, उसका पूर्ण प्रसार व विकास नहीं हो पाया है। बीतते हुये युगों के साथ उसमें नूतन-शक्ति का संचार होता जारहा है—वह प्रबल से प्रबलतर होता जारहा है।

आज हम ईसा की जीवनी में संपूर्ण अतीत का इतिहास देखते हैं। वैसे तो हर सामान्य-मानव का जीवन भी उसके अतीत भाव-

समूह का इतिहास ही है। समूची जाति का यह अतीत भावसमूह प्रत्येक व्यक्ति में आनुवंशिकता, वातावरण, शिक्षा व पूर्व जन्म के संस्कारों द्वारा आता ही रहता है। एक प्रकार से हमारे इस गतिमान नक्षत्र, इस सारे जगत की इतिकथा हरएक आत्मा पर सूक्ष्म रूप से अंकित है। किन्तु हम उस अनन्त अतीत के एक क्षुद्र कार्य और फल के अतिरिक्त और क्या हैं? विश्व के प्रबल प्रवाह में अनिवार्यतया अविरामरूप से अग्रसर होनेवाली, निश्चेष्ट, असमर्थ, छोटी छोटी उर्मियों के अतिरिक्त और हम क्या हैं? मैं और तुम जलप्रवाह में केवल क्षुद्र बुद्बुद हैं। विश्व-व्यापार के विशाल प्रवाह में कई विशाल तरंगें हैं। मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जनों में अतीत के भाव-समुदाय के अल्पांश का ही प्रतिनिधित्व होता है। किन्तु ऐसे शक्तिसम्पन्न महापुरुष भी होते हैं, जो प्राय: संपूर्ण अतीत के साकार स्वरूप होते हैं और अपने दीर्घ प्रसारित बाहुओं से सुदूर भविष्य की सीमाओं को भी स्पर्श करते रहते हैं। ये महापुरुष मानव जाति के उन्नतिपथ पर यत्र तत्र स्थापित मार्गनिदर्शक स्तम्भों के समान हैं। जिनके चिर प्रकाश की छाया से पृथ्वी आच्छन्न रहती है वे यथार्थ में महान हैं, अमर, अनन्त और अविनाशी हैं। इसी महापुरुष ने कहा है: किसी भी व्यक्ति ने ईश्वर-पुत्र के माध्यम बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है। और यह कथन अक्षरश: सत्य है। ईश्वर-तनय के अतिरिक्त ईश्वर को और हम कहाँ देखेंगे? यह सच है कि मैं और तुम, हममें से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति में भी परमेश्वर विद्यमान है, उनका प्रतिबिम्ब मौजूद है।

प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसका स्पन्दन सर्वव्यापी है, किन्तु हमें उसे देखने के लिये दीप-शिखा की आवश्यकता होती है। जगत का सर्वव्यापी ईश भी तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता, जब तक ये महान शक्तिशाली दीपक, ये ईशदूत, ये उसके सन्देशवाहक और अवतार, ये नर-नारायण उसे अपने में प्रतिबिम्बित नहीं करते।

हम सब को ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है, फिर भी हम उसे देख नहीं पाते, उसे नहीं समझ पाते। आत्मप्रकाश के इस महान संदेशवाहक की जीवन-कथा लीजिये, ईश्वर की जो उच्चतम भावना तुमने हृदय में धारण की है, उससे उसके चरित्र की तुलना करो और तुम्हें प्रतीत होगा कि इन जीवित और जाज्वल्यमान आदर्श महापुरुषों के चरित्र की अपेक्षा आप की भावनाओं का ईश्वर अनेकांश में हीन है, ईश्वर के अवतार का चरित्र आपके कल्पित ईश्वर की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च है। आदर्श के विग्रह स्वरूप इन महापुरुषों ने ईश्वर की साक्षात् उपलब्धि कर, अपने महान जीवन का जो आदर्श, जो दृष्टान्त हमारे सम्मुख रखा है, ईश्वरत्व की उससे उच्च भावना धारण करना असम्भव है। इसलिये यदि कोई इनकी ईश्वर के समान अर्चना करने लगे, तो इसमें क्या अनौचित्य है? इन नर-नारायणों के चरणाम्बुजों में लुण्ठित हो, यदि कोई उनकी भूमि पर अवतीर्ण ईश्वर के समान पूजा करने लगे तो क्या पाप है? यदि उनका जीवन, हमारे ईश्वरत्व के उच्चतम आदर्श से भी उच्च है तो इसमें क्या दोष? दोष की बात तो दूर रही, ईश्वरोपासना की केवल यही एक विधि संभव है। आप कितना ही प्रयत्न करें, पुनः-

पुनः सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर मनन करें, पर जब तक आप इस मानवजगत में, मानवदेह में, अवस्थित हैं, नरभावापन्न हैं तब तक आपका विश्व मानवी होगा, आपका धर्म मानवी होगा और आपका ईश्वर भी मानवी होगा। उसका अन्यथा होना असंभव है। कौन इतना निर्बुद्धि है, जो प्रत्यक्ष साक्षात् वस्तु का ग्रहण न कर, कल्पनाओं के पीछे दौड़ता फिरेगा, उन भावनाओं के साक्षात्कार के लिये खाक छानता फिरेगा—जिनका धारण करना भी कठिन है, और जिन तक किसी स्थूल माध्यम की सहायता बिना पहुँचना सर्वथा असंभव है? इसीलिये ईश्वर के इन अवतारों की सभी युगों व सभी देशों में पूजा होती रही है।

अब हम यहूदियों के पैगम्बर, ईसामसीह के जीवन का कुछ विवेचन करेंगे। विविध जातियों के इतिहास में हमें उत्थान और पतन का क्रम दृष्टिगत होता है। ईसा का जन्म एक ऐसे युग में हुआ, जिसे हम यहूदी जाति का पतनकाल कह सकते हैं—एक ऐसा युग जब व्यक्तियों की विचार-शक्ति कुछ शिथिल होजाती है और वे अतीत के सपनों के नीड़ में विश्राम करने लगते हैं, जीवन-प्रवाह स्थिर होकर उसमें सड़ाँध पैदा होने लगती है, विचार संकुचित होने लगते हैं, जीवन व जगत की महान समस्यायें दृष्टि से ओझल होजाती हैं, जाति ने पूर्वकाल में जो उपार्जित किया है, उसीका क्लान्त होकर वह चर्वण और रक्षण करती रहती है। सारांश में यह अवस्था दो तरंगों के उत्थान के बीच की पतनावस्था के समान ही थी। ध्यान रहे कि मैं इस अवस्था में कोई दोष नहीं देखता,

क्योंकि यदि यहूदि जाति के इतिहास में यह अवस्था न आती, तो इसके परवर्ती उत्थान की—जिसका नाजरथवासी ईसा मूर्त-स्वरूप थे— कोई संभावना न रहती । माना कि फैरिसी व सैड्युसी लोग कपट-शील थे, अनैतिक व अधर्माचारी थे, ऐसे कार्यों में रत रहते थे जो उन्हें नहीं करने चाहिये थे, किन्तु उनके इन्हीं कार्यों की फलोपपत्ति ईसा का महान व दिव्य जीवन है। एक छोर पर फैरिसी व सैड्युसी लोगों ने जिस शक्ति का निर्माण किया वही दूसरे छोर पर नाजरथ निवासी महामनीषी ईसा के रूप में प्रकट हुई ।

कई बार बाह्य धार्मिक क्रियाकलापों, रीतियों व छोटे मोटे विवरणों का उपहास किया जाता है, किन्तु उनमें धर्म-जीवन की शक्ति निहित रहती है । कई बार प्रगति-पथ पर अग्रसर होते होते धर्म-शक्ति का ह्रास भी होजाता है । देखा जाता है कि उदारमना व्यक्ति की अपेक्षा धर्मान्ध व्यक्ति अधिक प्रबल होते हैं । इसलिये धर्मान्ध पुरुष में भी एक गुण है : वह अपने में महान शक्ति-राशि संचय करने की क्षमता रखते हैं ।

व्यक्ति के समान जाति में भी इसी प्रकार शक्ति-संचय होता है। चारों ओर बाह्य शत्रुओं से घिरी हुई, रोमन जाति के पराक्रम, से प्रताड़ित हो एक केन्द्र में सन्निबद्ध, बौद्धिक-जगत में यूनान, फारस व भारत से आने वाली भावलहरियों से विताड़ित, यह जाति प्रबल मानसिक, शारीरिक व नैतिक शक्तियों से परिवेष्टित होने के कारण, प्रचण्ड स्वाभाविक व स्थितिशील शक्ति का आगार होगई जो अब भी उसके वंशधरों में लुप्त नहीं हुई है। बाध्य होकर इस जाति

को अपनी संपूर्ण शक्ति जेरूसलेम व यहूदी धर्म पर केन्द्रित करनी पड़ी, और शक्ति की यह प्रकृति है कि एक बार संचित होने पर फिर वह एक स्थान में नहीं रह सकती। वह अपना प्रसार कर अपने को निःशेष करने लगती है। पृथ्वी में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो दीर्घकाल तक एक सीमित स्थान में बन्दी बनाई जा सके भविष्य में प्रसार का अवसर दिये बिना उसे एक स्थान में संकुचित कर रखना असंभव है। यहूदी जाति की यह केन्द्रित शक्ति भी परवर्ती युग में क्रिश्चन धर्म के उत्थान के रूप में प्रकट हुई। विभिन्न दिशाओं से आने वाले क्षुद्र स्रोत मिल मिल कर एक स्रोतस्वती का निर्माण करते हैं और क्रमशः एक तरंशालिनी, वेगवती, महानदी बन जाती है। इसी विशाल प्रवाह की एक उच्च तरंग के शिखर पर हम नाजरथ निवासी ईसा को अधिष्ठित पाते हैं। इस प्रकार सभी महापुरुष अपने युग के घटना-चक्र के फल या कार्य-स्वरूप हैं, उनकी जाति का अतीत ही उनका निर्माण करता है। किन्तु वे स्वयं अपनी जाति के भविष्य का सृजन करते हैं। आज का कार्य अपने पूर्ववर्ती घटनासमूह का फल और परवर्ती घटनाओं का कारण है। हमारे आलोच्य महापुरुष पर भी यही सिद्धान्त घटता है। ईशदूत ईसामसीह उस सब का साकार स्वरूप है—जो उसकी जाति में श्रेष्ठ और उच्च है, जाति के उस जीवन-दर्शन का मूर्तरूप है जिसकी रक्षा के लिये जाति ने शत शत युगों तक संघर्ष किया है और वह स्वयं केवल अपनी ही जाति के नहीं, अपितु असंख्य जातियों के भावी जीवन का शक्ति-स्रोत है।

और एक बात हमें यहाँ स्मरण रखनी चाहिये । इस महान पैगम्बर पर मेरा विवेचन पौर्वात्य दृष्टिकोण से होगा। कई बार आप भी यह भूल जाते हैं कि ईसा प्राच्यदेशीय थे। ईसा को नील चक्षुओं व पीत केशों के साथ चित्रित करने के आप के प्रयत्नों के बावजूद भी ईसा की प्राच्यदेशीयता में कोई अंतर नहीं आता। बाइबल में प्रयुक्त उपमा व रूपक, उसमें वर्णित स्थान व दृश्य, उसका दृष्टिकोण उसका रहस्यमय काव्य व चरित्र-चित्रण, उसके प्रतीक सब इसी बात का ही तो संकेत करते हैं। उसमें वर्णित नीला चमकीला आकाश, ग्रीष्म का उत्ताप, प्रखर रवि, तृषार्त नरनारी व खग-मृग, सिर पर घड़े ले जल भरने, कुंओं पर जाते हुए नरनारिगण, किसान, मेषपाल व कृषिकार्य, पनचक्की व उसके समीपवर्ती सरोवरादि--ये सब केवल एशिया ही में तो दिखाई पड़ते हैं।

एशिया की आवाज़ सदैव धर्म की आवाज़ रही है और यूरोप सदैव राजनीति की भाषा बोलता रहा है। अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही महान हैं। यूरोप की यह बोली प्राचीन यूनानी विचारों की प्रतिध्वनि मात्र है । यूनानी अपने समाज को ही सर्वस्व व सर्वोच्च मानते थे। उनकी दृष्टि में अन्य सब बर्बर और असभ्य थे, उनके सिवाय इतरों को जीवित रहने का अधिकार नहीं था । उनके मत में यूनानी जो करते थे वही कर्तव्य था, वही श्रेष्ठ था। संसार में अन्य जो कुछ है, वह ग़लत है और उसको नष्ट कर देना चाहिये । इसलिये मानवता के प्रति उनकी सहानुभूति एकान्त सीमाबद्ध है, वे एकान्त स्वाभाविक हैं, और उनकी सभ्यता कलाकौशलमय है । यूनानी मस्तिष्क

संपूर्णतया इहलोक का चिन्तन करता है, उसी में निवास करता है। उसे अन्य-लौकिक स्वप्नों से प्रेम नहीं है, उसका काव्य भी इसी व्यवहारिक जगत से प्रेरणा पाता है ! उनके देवता भी मानव रूप, मानव-प्रकृतिपूर्ण, मानवों के साधारण सुख-दुःख का अनुभव करने वाले हैं।

यूनानी को सौन्दर्य से प्यार है पर वह ऐहिक सौन्दर्य है—प्रकृति की रमणीकता है। उसकी सौन्दर्योपासना केवल शैलराजि, शुभ्र हिमराशि, सरल शिशुओं से पुष्पों के सौन्दर्य, बाह्य अवयवों व आकृतियों के सौन्दर्य, मानवी मुख व उसकी सुघड़ता—सुडौलता के सौन्दर्य तक ही सीमित थी। यही यूनान परवर्ती यूरोप का आचार्य था, और इसलिये आज के यूरोप में उठनेवाले नित नये वाद व विचार, आज के यूरोप की वाणी यूनान के अतीत की एक प्रतिध्वनि मात्र है।

एशिया की आवाज़ इससे भिन्न है, एशियावासियों की प्रकृति कुछ और है। उस प्रकाण्ड भूमिखण्ड, उस विशाल महादेश की ज़रा कल्पना तो कीजिये जिसके अभ्रंकश शैल-शिखर बादलों को चीरकर आकाश की नीलिमा को चूमते रहते हैं; जिसकी अंक में एक ओर अनन्त बालुकाराशि सोई पड़ी है जिसमें एक बूँद पानी मिलना भी असंभव है, कोसों तक एक हरित-तृण के दर्शन होना भी दुर्लभ है, और दूसरी ओर भूमि किसी असूर्यम्पश्या राजकन्यका की भाँति हरित-वनराजि का अनन्त अवगुण्ठन धारण किये है, जहाँ विशाल वेगवती महानदियाँ अठखेलियाँ करती समुद्र की ओर बहती

जाती हैं चतुर्दिक प्राकृतिक सौन्दर्य से परिवेष्टित एशियावासियों की सौन्दर्य व महानता की कल्पनायें बिल्कुल विपरीत दिशा में अग्रसर हुई हैं। वे अन्तर्दृष्टिपरायण होगये हैं। उनमें भी प्राकृतिक सौन्दर्य के लिये वही पिपासा है, शक्ति के लिये वही भूख है। यूनानियों के समान उनमें भी इतरों को असभ्य व बर्बर समझने की प्रवृत्ति है, उन्नति की आकांक्षा है। किन्तु उनके इन भावों की परिधि विशाल और विस्तृत है। एशिया में आज भी, जन्म, वर्ण या भाषा के भेद पर जातियों का संगठन आधारित नहीं है। जातियाँ धर्म पर आधारित हैं। इस प्रकार सब क्रिश्चनों की जाति एक होगी, सब मुसलमान एक ही जाति के होंगे और इसी प्रकार सब बौद्ध अपने को एक ही जाति का मानते हैं। चीन निवासी एक बौद्ध फारस में रहनेवाले दूसरे बौद्ध को अपना भाई मानता है, अपनी ही जाति का अंग समझता है—केवल इसीलिये कि उन दोनों का धर्म एक है। धर्म ही मानवता को एक सूत्र में बाँधता है, वही एक सम्मिलन-भूमि है जहाँ विविध देशों के लोग अपने भेदभाव भूलकर परस्पर गले लगते हैं। और फिर इसी कारण एशियावासी, ये प्राची के निवासी जन्मजात स्वप्नद्रष्टा होते हैं, स्थूल जगत की अपेक्षा उसके परे किसी सूक्ष्म जगत का चिन्तन करना अधिक पसंद करते हैं। जलप्रपातों पर नाचती हुई लहरियाँ, खगकुल का कलरव, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र-तारा-ग्रह-संकुला रात्रि, निसर्ग, आदि का सौन्दर्य उन्हें मनोरम प्रतीत होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु प्राच्य मन के लिये यह पर्याप्त नहीं है। वह वर्तमान और इहलोक के धरातल को छोड़,

किसी अतीत के सपनों का सृजन करता है, किसी अतीन्द्रिय सौन्दर्य को खोजता है। वर्तमान, प्रत्यक्ष और दृश्य जगत मानो उसके लिये कुछ नहीं है। युगों से प्राची कई जातियों के जीवन का रंगमंच रही है, उसने न मालूम नियति-चक्र के कितने परिवर्तन देखे हैं। उसने एक राज्य के बाद दूसरे राज्य को, एक साम्राज्य के बाद दूसरे साम्राज्य को अभ्युदित होते, उठते और फिर गिरकर मिट्टी में मिलते देखा है; मानवीय शक्ति, प्रभुत्व, ऐश्वर्य और धनराशि को अपने कदमों में लुढ़कते और निछावर होते देखा है। अनन्त विद्या, असीम शक्ति व अनेकानेक साम्राज्यों की विशाल समाधिभूमि—यह है प्राच्य भूमि का परिचय। कोई आश्चर्य नहीं यदि प्राची के निवासी इहलोक की वस्तुओं को तिरस्कार के साथ देखें, और स्वभावत: किसी ऐसी वस्तु के दर्शन की चिर अभिलाषा उनके हृदय में अंकुरित होजाय जो अपरिवर्तनशील हो, जो अविनाशी हो, जो इस विनाशशील व दु:खपूर्ण जगत में अमर व नित्य आनन्दपूर्ण हो। प्राची के महापुरुष इन आदर्शों की घोषणा करते कभी नहीं थकते—और जहाँ तक महापुरुषों व अवतारों का प्रश्न है, आपको स्मरण होगा कि उनमें से सभी, बिना किसी अपवाद के प्राच्य-देशीय हैं।

इसलिये हम अपने आलोच्य महापुरुष, जीवन के इस दिव्य संदेशवाहक के जीवन का मूलमंत्र यही पाते हैं कि "यह जीवन कुछ नहीं है, इससे भी उच्च कुछ और है" और इस इन्द्रियातीत तत्व को अपने जीवन में परिणत कर उसने यह परिचय दिया है कि

वह प्राची का सच्चा पुत्र है। पाश्चात्य देशों के निवासी भी अपने कार्य-क्षेत्र में—सामरिक व राजनीतिक कार्यों के संचालनादि में अपनी दक्षता व व्यावहारिकता का परिचय देते हैं। शायद, पूर्व का निवासी इन सब कार्यों में इतना कर्तृत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु अपने निज के क्षेत्र में वह भी कार्य-दक्ष है—अपने जीवन को अपने धर्म पर आधारित करने में उसने भी अपनी व्यवहार-कुशलता दिखाई है। यदि वह आज किसी दर्शन का प्रचार करता है, तो देखा जायेगा कि कल ही सैकड़ों नर-नारी अपने जीवन में उसकी उपलब्धि करने का जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं। यदि कोई व्यक्ति उपदेश करता है कि एक पैर पर खड़े रहने से मुक्ति संभव है, तो उसे अल्पकाल में ही एक पैर पर खड़े होने वाले सैकड़ों अनुयायी मिल जायँगे। शायद आप इसे हास्यास्पद समझते हों, किन्तु आप यह स्मरण रखें कि इसके पीछे उनके जीवन का यह मूलमंत्र, उनका यह दर्शन विद्यमान है कि धर्म केवल विचार व मनन की वस्तु नहीं है, उसकी जीवन में उपलब्धि व परिणति की जानी चाहिये। पाश्चात्य देशों में मुक्ति के जो विविध उपाय निर्दिष्ट किये जाते हैं—वे केवल बौद्धिक कलाबाज़ियाँ मात्र हैं और कभी भी उन्हें कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। पश्चिम में जो प्रचारक अच्छा वक्ता है, वही श्रेष्ठ धर्मोपदेष्टा मान लिया जाता है।

अतएव, हम देखते हैं कि प्रथमतः नाजरथनिवासी ईसा पूर्व की सच्ची संतान थे—धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक थे। उन्हें इस नश्वर जगत व उसके क्षणभंगुर ऐश्वर्य में विश्वास नहीं

है। शास्त्र-वाक्यों को तोड़मरोड़ कर व्याख्या करने की, जो कि आजकल पाश्चात्य देशों में प्रथा सी होगई है, कोई आवश्यकता नहीं। शास्त्र-वाक्य कोई रबर से लचीले नहीं हैं कि उन्हें जिधर चाहो उधर खींचलो और मरोड़ लो। उनका एक ही अर्थ है और कितनी भी खींचातानी करने पर दूसरा अर्थ नहीं निकलेगा। धर्म को वर्तमानकालीन इन्द्रिय-सर्वस्वता का समर्थक बनाना बंद करदेना चाहिये। कम से कम हमें अपने प्रति तो सच्चे व अकपटी बनने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि हम आदर्श का अनुगमन नहीं कर सकते, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार करलें पर उसे हीन न बनायें, उसे अपने उच्च धरातल से न गिरायें।

पश्चिम के लोग, ईसा के चरित्र के जो नित्य नये नय व विभिन्न विवेचन प्रकाशित कर रहे हैं, उनसे हृदय अवसन्न हो जाता है। इन वर्णनों से इस बात का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं होता, कि ईसा क्या थे और क्या नहीं। एक उन्हें महान राजनीतिज्ञ बताता है, तो दूसरा कहता है ईसा एक बड़े युद्ध-विशारद सेनापति थे और तीसरा कहता है वे एक देशभक्त यहूदी थे। इन सब धारणाओं के लिये इन पुस्तकों में कोई आधार है? किसी महान धर्माचार्य के जीवन पर, स्वयं उसके अपने शब्दों से अच्छा और कौन भाष्य हो सकता है? स्वयं ईसा ने अपने विषय में कहा है: "लोमड़ियों व शृगालों के एक एक माँद होती है, नभचारी खगकुल अपने नीड़ में निवास करते हैं, पर मानवपुत्र (ईसा) के पास अपना सिर छिपाने के लिये कोई छत नहीं है।" ईसा स्वयं त्यागी व वैराग्य-

वान थे, इसलिये उनकी शिक्षा भी यही है कि वैराग्य व त्याग ही मुक्ति का एकमेव मार्ग है, इसके अतिरिक्त मुक्ति का और कोई पथ नहीं है। यदि हममें इस मार्ग पर अग्रसर होने की क्षमता नहीं है, तो हमें मुख में तृण धारणकर, विनीतभाव से अपनी यह दुर्बलता स्वीकार करलेनी चाहिये कि हममें अब भी 'मैं' और 'मेरे' के प्रति ममत्व है, हममें धन और ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति है। हमें धिक्कार है कि हम यह सब स्वीकार न कर मानवता के उस महान आचार्य को लज्जित करते हैं। उसे पारिवारिक बंधन नहीं जकड़ सके। क्या आप सोचते हैं कि ईसा के मन में कोई सांसारिक सुख के भाव थे? क्या आप सोचते हैं कि यह महान ज्योति, यह अमानव, यह प्रत्यक्ष ईश्वर, पृथ्वी पर पशुओं का समधर्मी बनने के लिये अवतीर्ण हुआ? किन्तु फिर भी लोग उसके उपदेशों का अपनी इच्छानुसार अर्थ लगा कर प्रचार करते हैं। उन्हें देह-ज्ञान नहीं था—वे लिङ्गोपाधिरहित विशुद्ध आत्मा थे। वे केवल अविकारी व शुद्ध आत्मा थे—देह से केवल उनका यही संपर्क था कि उसमें अवस्थित हो वे मानवजाति के कल्याण के लिये कार्य कर सकते थे। आत्मा लिङ्ग-विहीन है। विदेह आत्मा का देह व पाशव भाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अवश्यमेव त्याग व वैराग्य का यह आदर्श साधारणजनों की पहुँच के बाहर है। कोई हर्ज नहीं, हमें अपना आदर्श नहीं विस्मृत करदेना चाहिये—उसकी प्राप्ति के लिये सतत यत्नशील रहना चाहिये। हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि त्याग हमारे जीवन का आदर्श है, किन्तु अद्यापि हम उस तक पहुँचने में असमर्थ हैं।

मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ, इस तत्व की उपलब्धि के अतिरिक्त ईसा के जीवन में अन्य कोई कार्य न था, और कोई चिन्ता न थी। वे वास्तव में विदेह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा-स्वरूप थे। यही नहीं, उन्होंने अपनी दिव्य-दृष्टि से जानलिया था कि सभी नर-नारी, चाहे वे यहूदी हों या किसी अन्य इतर जाति के हों, दरिद्र हों या धनवान, साधु हों या पापात्मा, उनके ही समान अविनाशी आत्मा-स्वरूप हैं। इसलिये, उन्होंने अपना यह जीवन-कार्य बनालिया था कि वे संसारी पुरुषों को अपने अमर स्वरूप की पहचान करा दें, सारी मानवता को अपने शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यस्वरूप की उपलब्धि करने का आह्वान दे दें। उन्होंने कहा : यह अंधविश्वास भरी मिथ्या भावना छोड़ दो कि हम दीन हीन हैं। यह न सोचो कि तुम पर गुलामों के समान अत्याचार किया जारहा है, तुम पैरों तले रौंदे जारहे हो क्योंकि तुममें एक ऐसा तत्व विद्यमान है, जिसे पददलित व पीड़ित नहीं किया जासकता, जिसका विनाश नहीं हो सकता। तुम सब ईश्वर के पुत्र हो, अमर और अनादि हो। अपनी महान वाणी से ईसा ने जगत में घोषणा की, " दुनिया के लोगो, इस बात को भलीभाँति जान लो कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अभ्यन्तर में अवस्थित है: मैं और मेरा पिता अभिन्न हैं। साहस कर खड़े होजाओ और घोषणा करो कि मैं केवल ईश्वरतनय ही नहीं, स्वयं ईश्वर हूँ, अपने हृदय में मुझे यह प्रतीति होगई है कि मैं और मेरा पिता एक और अभिन्न हैं। " नाजरथवासी ईसा मसीह में यह कहने का साहस था। उन्होंने इस संसार व इस देह के संबंध में कुछ न कहा। इन वस्तुओं से

उन्हें कोई प्रयोजन नहीं, संसार से केवल उनका यही सम्पर्क था कि संसार का यथार्थ स्वरूप समझकर, उसे उस पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दें—जिस पर चलकर वह परम ज्योतिर्मय ईश्वर के निकट पहुँच जाय, जिस पर आगे बढ़ प्रत्येक व्यक्ति अपने यथार्थ स्वरूप को जान जाय, जिसका अवलंबन करने से संसार में मृत्यु का पराजय व दु:खों का अन्त होजाय।

ईसा के जविन पर लिखी गई विभिन्न परस्पर विरोधी आख्यायिकायें हमने पढ़ी हैं। विद्वज्जनों की ग्रन्थावलियाँ व 'उच्चतर भाष्यादि' से भी हमारा परिचय है। इन सब आलोचनाओं द्वारा क्या सम्पादित किया गया है इससे भी हम अज्ञ नहीं हैं। हमें यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना है कि बाइबल के न्यू टेस्टामेंट का कितना अंश सत्य है या उसमें वर्णित ईसा मसीह का जीवन-चरित्र कहाँ तक ऐतिहासिक सत्य पर आधारित है। ईसा की पाँचवी शताब्दी तक न्यू टेस्टामेंट लिखा जाचुका था या नहीं और उसमें कितना सत्यांश है, इससे भी हमें कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु इस सब लेखों का आधार एक ऐसी वस्तु है जो अवश्य सत्य है, अनुकरणीय है। मिथ्या प्रलाप करने के लिये भी हमें किसी सत्य की नकल करनी पड़ती है, और सत्य सदैव वास्तविकता पर आधारित रहता है। जिसका कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था, उसका अनुकरण भी कसा? जिसे किसीने कभी देखा नहीं, उसकी नकल कैसे होसकती है? इसलिये यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि न्यू टेस्टामेंट की कथायें कितनी ही अतिरञ्जित, अतिशयोक्ति-पूर्ण क्यों

न हों, उस कल्पना का अवश्य कोई आधार था—निश्चित ही उस युग में जगत में किसी महाशक्ति का आविर्भाव हुआ था, किसी महान आध्यात्मिक शक्ति का अपूर्व विकास हुआ था—और उसी की आज हम चर्चा कर रहे हैं। उस महाशक्ति के अस्तित्व में हमें कोई संदेह नहीं है, हमें इस संबंध में पण्डितवर्ग द्वारा की गई आलोचनाओं का भी कोई भय नहीं । यदि एक प्राच्यदेशीय के रूप में मैं नाजरथ-निवासी ईसा की उपासना करूँ, तो मेरे लिये ऐसा करने की केवल एक ही विधि है—और वह है उसकी ईश्वर के समान आराधना करना। उसकी अर्चना की और कोई विधि मैं नहीं जानता। क्या आप कहते हैं कि हमें इस प्रकार उसकी उपासना करने का अधिकार नहीं है? यदि हम ईसा को अपने ही हीन धरातल पर आसीन कर, उनके प्रति किञ्चित आदर्श-भाव प्रकट करने में ही अपने कर्तव्य की इति-श्री मान लेते हैं, तो फिर उपासना का प्रयोजन ही क्या रहगया ? हमारे शास्त्र कहते हैं, "ये अनन्त-ज्योति के पुत्र, जिनमें ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित है, जो स्वयं ब्रह्म-ज्योति-स्वरूप हैं—आराधित किये जाने पर, हमारे साथ तादात्म्य-भाव प्राप्त करलेते हैं, व हम भी उनके साथ एकत्व स्थापित करलेते हैं।"

क्योंकि, आपने लक्ष्य किया होगा कि मनुष्य तीन प्रकार से ईश्वरोपलब्धि कर सकते हैं। प्रथमावस्था में अविकसित मनुष्य की अपरिपक्व बुद्धि कल्पना करती है कि ईश्वर आकाश में बहुत ऊँचे, किसी स्वर्ग नामक स्थान में सिंहासनासीन हो, न्यायाधीश की भाँति

पाप-पुण्य का निर्णय करता है। लोग उसका 'महद्भयं वज्रमुद्यतं' के रूप में दर्शन करते हैं। ईश्वर की एवंविध भावना में भी कोई बुराई नहीं है। तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिये की मानवता की गति सदैव एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर रही है; असत्य से, भ्रम से, सत्य व यथार्थ की ओर नहीं; या यदि आप इसी भाव को अन्य शब्दों में व्यक्त करना पसंद करें—तो मानवता निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर प्रयाण करती है, असत्य से सत्य की ओर नहीं। कल्पना कीजिये कि आप एक सरल रेखा में पृथ्वी से सूर्य की ओर जारहे हैं। प्रथमतः आपको सूर्य एक लघु बिम्ब के समान दृष्टिगत होगा। किन्तु कई लक्ष कोस प्रयाण करने पर सूर्य का आकार दीर्घ से दीर्घतर होता जायगा। ज्यों ज्यों हम अग्रसर होते रहेंगे, त्यों त्यों सूर्य अधिकाधिक दीर्घाकार दिखने लगेगा। अब यदि यात्रा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से आप सूर्य के बीस हज़ार छाया-चित्र लें, तो वे अवश्य ही एक दूसरे से भिन्न होंगे। किन्तु क्या आप यह नहीं कहेंगे कि वे एक ही वस्तु—एक ही सूर्य के छायाचित्र नहीं हैं? इसी प्रकार भिन्न भिन्न धर्म, चाहे वे उच्चतम हों या निम्नतम, उस अनन्त ज्योतिर्मय परमेश्वर की ओर मानवता के प्रयाण की भिन्न भिन्न अवस्थायें मात्र हैं। उनमें केवल यही भेद है कि किसीमें ईश्वर की निम्नतर धारणा की गई है और किसी में उच्चतर। इसलिये संसार की अविकसित बुद्धियुक्त साधारण जातियों के धर्मों में सदैव ही एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की गई है, जो भौतिक विश्व की परिधि के बाहर, स्वर्गनामक स्थान में निवास करता है, वहीं से

संसारचक्र की गति-विधि पर नियंत्रण करता है, और पापपुण्य का न्याय कर मनुष्यों को दण्ड व पुरस्कार वितरित करता है। ज्यों ज्यों मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति करता गया, त्यों त्यों उसे यह प्रतीत होने लगा कि ईश्वर सर्वव्यापी है, सारे अग-जग, सर्व चराचर में उसकी ज्योति प्रवाहित होरही है, उसमें खुद में भी उसी ईश्वर का निवास है। उसे भास होने लगा कि ईश्वर सब आत्माओं की अन्तरात्मा है और उनसे दूर अवस्थित नहीं है। जिस प्रकार मेरी आत्मा मेरे देह का परिचालन करती है, वैसे ही ईश्वर मेरी आत्मा का संचालन करता है, मेरी आत्मा में विद्यमान अन्तरात्मा है। कतिपय व्यक्तियों ने, जो शुद्ध थे—अपनी चिन्तन-शक्ति द्वारा, अपनी साधना की सहायता से, इतनी प्रगति करली, कि वे पूर्वोक्त धारणा का अतिक्रम कर, स्वयं ईश्वर की उपलब्धि करने में सफल होगये। जैसा कि न्यू टेस्टामेंट में कहागया है, "ये शुद्ध-हृदय व्यक्ति धन्य हैं, क्योंकि इन्हें परमेश्वर के दर्शन हो सकेंगे।" और उन्हें अन्त में इस तत्व की उपलब्धि होसकी कि वे और उनका पिता एक हैं, उनमें द्वैत और भेद नहीं।

आप देखेंगे कि न्यू टेस्टामेंट में मानवता के उस महान आचार्य न भी ईश्वर-प्राप्ति की इस सोपान-त्रयी की ही शिक्षा दी है। उसने जिस सार्वजनिक प्रार्थना (Common Prayer) की शिक्षा दी है, उसकी ओर लक्ष्य कीजिये : हे मेरे स्वर्ग-निवासी पिता, तेरा नाम सदैव जययुक्त व प्रकाशमान रहे, इत्यादि। यह सरल-भावना-युक्त प्रार्थना है, एक शिशु की प्रार्थना जैसी है। देखिये यह साधारण

सार्वजनिक प्रार्थना है, क्योंकि यह अशिक्षित, जनसाधारण के लिये है। अपेक्षाकृत उच्चतर व्यक्तियों के लिये, जो साधनामार्ग में किञ्चित् अधिक अग्रसर होगये थे, ईसा ने अपेक्षाकृत उच्च साधना का उपदेश दिया है : मैं अपने पिता में वर्तमान हूँ, तुम मुझमें वर्तमान हो व मैं तुममें वर्तमान हूँ। क्या तुम्हें याद है यह? और फिर जब यहूदियों ने ईसा से पूछा था—"तुम कौन हो" तो ईसा ने अपनी महान वाणी में घोषणा की "मैं और मेरा पिता एक हैं।" यहूदियों ने सोचा यह धर्म की घोर निन्दा है, भगवान का घोर अपमान है। पर ईसा के कथन का अर्थ क्या था? यह भी तुम्हारे पैगम्बर स्पष्ट करगये हैं: "तुम सब देवगण हो, तुम सब उस परात्पर पुरुष की सन्तान हो।" देखिये, बाइबल में भी इस त्रिविध सोपान का उपदेश है। तुम देखोगे कि प्रथमावस्था से आरंभ करने की अपेक्षा अन्तिम अवस्था अधिक सरलता से प्राप्त की जा सकती है।

ईश्वर के अग्रदूत, परम ज्ञानज्योति के संदेश-वाहक ईसा सत्योपलब्धि का मार्ग प्रदर्शित करने अवतीर्ण हुये थे। उन्होंने हमें बताया कि नानाविध धार्मिक क्रियाकलाप, अनुष्ठानादि से आत्म-तत्व प्राप्त नहीं किया जासकता; उन्होंने बताया कि गूढ़, दार्शनिक तर्क-वितर्कों से आत्म-तत्व की प्राप्ति नहीं होगी। अच्छा होता यदि तुम कोई पुस्तक न पढ़ते, अच्छा होता यदि तुम विद्या-हीन होते। मुक्ति के लिये इन उपकरणों की आवश्यकता नहीं है, उसके लिये धन, ऐश्वर्य और उच्च पद की ज़रूरत नहीं। उसके लिये केवल एक वस्तु की आवश्यकता है—और वह है शुद्धता। "शुद्ध-हृदय पुरुष धन्य

हैं " क्योंकि आत्मा स्वयं शुद्ध है । और अन्यथा हो भी कैसे सकता है ! ईश्वर से ही उसका आविर्भाव हुआ है, वह ईश्वर-प्रसूत है । बाइबल के शब्दों में वह " ईश्वर का निःश्वास है । " कुरान की भाषा में " वह ईश्वर की आत्मा-स्वरूप है । " क्या आप कहते हैं कि ईश्वरात्मा कभी अशुद्ध और विकारपूर्ण नहीं होसकती ? काश कि वह कभी अशुद्ध न होसकती ? किन्तु दुर्भाग्य से हमारे शुभाशुभ कार्यों के कारण वह सदियों के मैल, सैकड़ों वर्षों की अशुद्धि और धूलि से आवृत है; हमारे नानाविध दुष्कर्म, नानाविध अन्याय कार्य शत शत वर्षों से अज्ञान रूपी धूलि व मलीनता द्वारा उसके प्रकाश को मन्द कररहे हैं । केवल इस धूलि और मैल की तह को उस पर से पोंछने भर की देर है, आत्मा पुनः अपनी उज्ज्वल व दिव्य प्रभा से प्रकाशित होजायगी । शुद्ध-हृदय व्यक्ति धन्य हैं, क्योंकि उनके लिये ईशदर्शन सुलभ है । महान स्वर्गराज्य हमारे ही अन्तर में विराजमान है । " और इसीलिये नाजरथ का वह महान पैगम्बर पूछता है, " जब स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विराजमान है, तो उसे ढूँढ़ने अन्यत्र कहाँ जारहे हो ? " अपनी आत्मा को माँज-पोंछ कर साफ करो, मलीनता का अपसारण करो, अपने दुष्कृत्यों, अपने पापों का प्रायश्चित्त व प्रक्षालन करो, तुम्हें अवश्य उसके दर्शन होंगे, अवश्य तुम्हें अपनी ही आत्मा में वह विशाल स्वर्ग-राज्य दृष्टिगत होगा । तुम उसके आजन्म अधिकारी हो । यदि उस पर तुम्हारा स्वत्व नहीं है, तो तुम कैसे उसे पासकते हो ? तुम अमरता के अधिकारी हो, तुम उस नित्य, सनातन पिता की सन्तान हो, स्वर्गराज्य तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार है ।

यह है उस महान संदेश-वाहक की महान शिक्षा। उसकी दूसरी शिक्षा है त्याग—जो प्रायः सभी धर्मों का आधार है। आत्म-शुद्धि कैसे प्राप्त की जा सकती है? त्याग द्वारा। एक धनी युवक ने एक बार ईसा से पूछा, "प्रभो, अनन्त जीवन की प्राप्ति के लिये मैं क्या करूँ?" ईसा बोले, "तुममें एक बड़ा अभाव है। यहाँ से घर जाकर अपनी सारी सम्पत्ति बेच दो, जो धन प्राप्त हो—उसे गरीबों को दान कर दो। तुम्हें स्वर्ग में अक्षय धन-सम्पदा प्राप्त होगी। उसके बाद 'क्रॉस' धारण कर मेरा अनुगमन करो।" धनी युवक यह सुन कर अत्यन्त उदास होगया व दुःखी होकर चलागया, क्योंकि अपनी अपार सम्पत्ति का मोह वह नहीं त्याग सकता था। हम सब न्यूनाधिक अंशों में उसी युवक के समान हैं। रातदिन हमारे कानों में यही महावाणी ध्वनित होती रहती है। हमारे आनन्द के क्षणों में, सौंसारिक विषयोपभोग में हम जीवन के सब उच्चतर आदर्श भूल जाते हैं; पर इस अनवरत व्यापार में जब कभी क्षण-भर का विराम आता है, हमारे कानों में वही महाध्वनि गूंजने लगती है, "अपना सर्वस्व त्यागकर मेरा अनुसरण करो। जो अपनी जीवन-रक्षा का प्रयत्न करेगा, वह उसे खो देगा, और जो मेरे लिये अपना जीवन खोयेगा, वह उसे पा लेगा।" जो भी अपना जीवन उसे समर्पित करदेगा, वही अनन्त जीवन का अधिकारी बन सकेगा, उसे ही अमरता वरण करेगी। हमारी दुर्बलताओं के बीच जीवन के अजस्र प्रवाह में—कहीं से एक क्षण का विराम आ उपस्थित होजाता है और पुनः उस महावाणी की घोषणा हमारे कानों में होना शुरू हो

जाती है : "अपना सर्वस्व त्याग कर दो, उसे गरीबों को बाँट दो और मेरा अनुगमन करो !"

स्वार्थ-शून्यता, निस्पृहता, त्याग—यही एक आदर्श है जिसकी ईसामसीह ने शिक्षा दी है—जिसका दुनिया के सभी पैगम्बरों ने प्रचार किया है। इस त्याग का क्या तात्पर्य है? त्याग का मर्म केवल यही है कि निस्पृहता, निःस्वार्थपरता ही नैतिकता का उच्चतम आदर्श है। अहंशून्य बनो। पूर्ण निःस्वार्थपरता —पूर्ण अहंशून्यता ही हमारा आदर्श है। और इसका दृष्टान्त है ईसा का यह वाक्य : यदि किसी ने तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मार दिया है, तो दूसर गाल भी उसकी ओर करदो। यदि किसी ने तुम्हारा कोट छीन लिया है, तो तुम उसे अपना चोगा भी देदो।

आदर्श को अपने उच्च-धरातल से नीचा न करते हुये हमें उसे प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। और वह आदर्श अवस्था यह है : जिस अवस्था में मनुष्य का अहंभाव पूर्णतया नष्ट होजाता है, उसका स्वत्व भाव लुप्त होजाता है, जब उसके लिये ऐसी कोई वस्तु नहीं रहजाती जिसे वह 'मैं' और 'मेरी' कह सके, जब वह संपूर्णतया आत्मविसर्जन कर देता है—अपनी आहुति दे देता है—इस प्रकार अवस्थापन्न व्यक्ति के अंतर में स्वयं ईश्वर निवास करते हैं, क्योंकि ऐसे व्यक्ति की वासनायें नष्ट होजाती हैं, संयमाग्नि में जलकर खाक होजाती हैं, निर्बल होकर उसे छोड़ देती हैं। यह है हमारा आदर्श और यद्यपि इस आदर्शावस्था को हम अद्यापि प्राप्त नहीं कर सकते, तथापि हमें, स्खलित पदों से ही क्यों न हो, उस

ओर शनैः शनैः अग्रसर होते रहना चाहिये। आज कल या आज के सहस्रों वर्ष के बाद—हमें उस आदर्श को प्राप्त करना है, क्योंकि यह आदर्शावस्था हमारी साधना का अन्त ही नहीं—हमारी साधना का मार्ग भी है। निःस्वार्थपरता, पूर्ण अहंशून्यता साक्षात् मुक्ति है, क्योंकि अहंशून्य होने पर भीतर का व्यक्ति मर जाता है, और केवल ईश्वर अवशिष्ट रह जाता है।

एक बात और है। मानवता के सभी महान आचार्य अहंशून्य हैं। कल्पना कीजिये कि नाजरथ के ईसा उपदेश दे रहे हैं—और इसी बीच कोई व्यक्ति उठ कर पूछने लगता है, "आप का उपदेश बहुत सुन्दर है, मेरा विश्वास है कि पूर्णत्व-प्राप्ति का यही एक मार्ग है और मैं उसका अनुसरण करने को भी प्रस्तुत हूँ, किन्तु मैं आपकी ईश्वर के एकमात्र उत्पन्न पुत्र के रूप में उपासना नहीं कर सकता।" ईसा मसीह के पास इसका क्या उत्तर होगा—ज़रा सोचिये। शायद ईसा उस व्यक्ति से कहते, "अच्छा, भाई, आदर्श का अनुसरण कर अपनी इच्छानुसार उस ओर प्रगति करो। तुम मुझे मेरे उपदेशों के लिये कोई श्रेय दो या न दो—मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। मैं कोई दूकानदार नहीं हूँ, बनिया नहीं हूँ। मैं धर्म का व्यवसाय नहीं करता। मैं केवल सत्य की शिक्षा देता हूँ—और सत्य किसी की बपौती—किसी की जायदाद नहीं है। सत्य पर किसी का एकाधिपत्य नहीं है। सत्य स्वयं ईश्वर है। तुम अपने मार्ग पर अग्रसर होते जाओ।" पर आज ईसा के अनुयायी उसी प्रश्न का यह जबाब देते हैं, "तुम इन उपदेशों पर, इन उसूलों पर अमल करो

या न करो, इससे हमें कोई मतलब नहीं पर तुम उपदेशक का सम्मान तो करते हो न ? यदि तुम उपदेशक का सम्मान करते हो तो अवश्य ही तुम्हारा उद्धार हो जायगा, यदि नहीं, तो तुम्हारी मुक्ति की कोई आशा नहीं।" इस प्रकार उस महापुरुष की सारी शिक्षाओं को विकृत स्वरूप देदिया गया है। सारे विवाद, सारे झगड़े, केवल उपदेशक के व्यक्तित्व को लेकर खड़े होते हैं। ये नहीं जानते कि उपदेशक और उपदेश में इस प्रकार का भेद आरोपित कर वे उसी व्यक्ति को लांछित व अपमानित कर रहे हैं जो उनका आदरणीय व पूजार्ह है, जो स्वयं इस प्रकार के विचार सुनकर लज्जा से संकुचित हो जाता। संसार में कोई उसे स्मरण करते हैं या नहीं इसकी उस महापुरुष को क्या परवाह थी ? उसे तो विश्व को एक संदेश देना था—और वह उसने दे दिया। इसके बाद यदि उसे बीस सहस्र जीवन भी प्राप्त होते तो उन्हें वह दुनिया के गरीब से गरीब आदमी के लिये भी निछावर कर देता। यदि लक्ष लक्ष घृणार्ह 'समारिया'वासियों के उद्धार के लिये, उसे करोड़ों बार करोड़ों यातनायें भी सहनी पड़तीं; यदि उनमें से एक एक की मुक्ति के लिये उसे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़ती, तो वह सहर्ष यह सब अंगीकार करलेता। और यह सब करते हुए—उसे यह इच्छा छू भी न पाती कि मृत्यु के बाद दुनिया में कोई उसे याद करे। स्वयं ईश्वर जिस प्रकार कार्य करता है, वह भी उसी प्रकार शान्त, स्थिर, नीरव और अज्ञातरूप में अपना कार्य करता। लेकिन, इसके अनुयायी क्या कहते हैं ? वे

कहते हैं—तुम पूर्ण निःस्वार्थ और दोष-रहित ही क्यों न हो, जब तक तुम हमारे पैगम्बर, हमारे धर्माचार्य की पूजा और उसका सम्मान नहीं करोगे, तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। पर यह क्यों ? इस अंधविश्वास, इस अज्ञान का कारण क्या है—इसकी उपपत्ति कहाँ से हुई ? इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि ईसा के शिष्यगण सोचते हैं—ईश्वर केवल एक ही बार अवतीर्ण हो सकता है। किन्तु यही विचार सब कुसंस्कारों, सब भ्रमों की जड़ है। ईश्वर मानवरूप में तुम्हारे सामने प्रकट हुआ है। किन्तु प्राकृतिक जगत में जो घटनायें होती हैं, वे अवश्यमेव भूतकाल में भी हुई हैं और भविष्य में भी होंगी। प्रकृति में ऐसी कोई घटना नहीं है जो नियमाधीन नहीं है। उसके नियमबद्ध होने का अर्थ केवल यही है कि जो घटना एक बार हुई है वह कुछ परिस्थितियों के विद्यमान होने पर, भविष्य में भी होगी व भूतकाल में भी होती रही है।

भारतवर्ष में ईश्वरावतार के संबंध में यही सिद्धान्त प्रचलित है। भारतीयों के अन्यतम अवतार, श्रीकृष्ण ने जिनकी भगवद्गीता-स्वरूप अपूर्व उपदेश-माला आपने पढ़ी होगी, कहा है :—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

अर्थात् यद्यपि मैं जन्मरहित, अक्षय-स्वभाव व इस भूत-समूह का ईश्वर हूँ, तथापि मैं अपनी प्रकृति का अधिष्ठान कर, अपनी माया से जन्म-ग्रहण करता हूँ। हे अर्जुन! जब जब धर्म की अवनति व अधर्म का उत्थान होता है, तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ। साधु-जन के परित्राणार्थ, दुष्कार्य-रत व्यक्तियों के विनाशार्थ व धर्म की संस्थापना के लिये मैं प्रत्येक युग में जन्म-ग्रहण करता हूँ।" जब संसार की अवनति होने लगती है, तो भगवान उसकी सहायता करने को अवतार लेते हैं, इस प्रकार वे विभिन्न स्थानों व विभिन्न युगों में आविर्भूत होते रहते हैं। दूसरे एक स्थान में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है:

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

"जहाँ कहीं किसी असाधारण-शक्तिसम्पन्न, व पवित्र आत्मा को मानवता के उत्थान के लिये यत्नशील देखो, तो यह जान लो कि वह मेरे ही तेज से उत्पन्न हुआ है, मैं ही उसके माध्यम से कार्य कर रहा हूँ।

इसलिये हमें केवल नाजरथवासी ईसा को ही ईश्वर का पुत्र व अवतार न मानकर, विश्व के सभी महान आचार्यों व पैगम्बरों को भी यही सम्मान देना चाहिये जो ईसा के पहले जन्म लेचुके थे, जो ईसा के पश्चात् आविर्भूत हुए हैं और जो भविष्य में अवतार ग्रहण करेंगे! हमारा सम्मान और हमारी पूजा सीमाबद्ध नहीं है। ये सब महापुरुष एक ही अनन्त शक्ति—एक ही ईश्वर का अभिव्यक्ति हैं। वे सब शुद्ध और अहं-शून्य हैं, सभीने इस दुर्बल

मानवजाति के उद्धार के लिये प्राणपण से प्रयत्न किया है, इसी के लिये जीये और मरे हैं। वे हमारे और हमारी आनेवाली संतान के— सब के पापों को ग्रहण कर उनका प्रायश्चित्त कर गये ह।

एक प्रकार से हम सभी अवतार हैं, सब अपने कंधों पर संसार का भार वहन कर रहे हैं। क्या तुमने कोई ऐसा व्यक्ति देखा है–ऐसी कोई स्त्री देखी है–जो धैर्यपूर्वक, शान्ति से अपने लघु संसार, अपने जीवन का लघु भार न वहन कर रही हो? ये महान अवतार हमारी तुलना में अवश्य विशालकाय थे, और इसलिये वे अपने कंधों पर इस महान जगत का भार उठाने में भी सफल हो सके। अवश्य उनसे तुलना करने पर हम अतिक्षुद्र और बौने प्रतीत होते हैं, किन्तु हम भी वही कार्य कर रहे हैं – हम भी अपने छोटे छोटे घरों में, अपने छोटे संसार में, अपनी छोटी छोटी दुख-सुख की गठरियाँ सिर पर रख अग्रसर होरहे हैं। कोई इतना क:पदार्थ नहीं है, कोई इतना हीन नहीं है–जो अपना भार स्वयं नहीं वहन करता। हमारी सब भ्रान्तियों, सब दुष्कृतियों, हमारे सब हीन व गर्हित विचारों के लाञ्छन व अपवाद की कालिमा के बावजूद भी, हमारे चरित्र में एक उज्ज्वल अंश है, कहीं न कहीं एक ऐसा सुवर्ण-सूत्र है, जिसके द्वारा हम सदैव भगवान से संयुक्त रहते हैं। कारण, यह निश्चय ही जानो कि जिस क्षण भगवान के साथ हमारा यह संयोग नष्ट हो जायगा, उसी क्षण इस जगत् का विनाश हो जायगा। और चूँकि कभी भी किसीका संपूर्ण नाश होना असंभव है, हम कितने ही हीन, पतित व दुष्कर्मरत क्यों न हों, कहीं न कहीं हमारे हृदय में—

ईशदूत ईसा

'हमारे अन्तर के अन्तर्तम प्रदेश में एक ज्योति की किरण विराजमान है जो सदैव हमारा ईश्वर से संयोग बनाये रखती है।

विभिन्नदेशीय, विभिन्नजातीय व विभिन्न-मतावलम्बी, भूतकाल के उन सब महापुरुषों को हम प्रणाम करते हैं — जिनके उपदेश और चरित्र हमने उत्तराधिकार में पाये हैं। विभिन्न जातियों, देशों व धर्मों में जो देवतुल्य नर-नारि-गण, मानवता के कल्याण में रत हैं, उन सब को प्रणाम है। जीवन्त ईश्वरस्वरूप, जो महापुरुष भविष्य में हमारी संतान के लिये निस्पृहता से कार्य करने के लिये अवतार धारण करेंगे उन सब को प्रणाम है।

---

७. भगवान बुद्ध

(अमेरिका के डिट्रॉइट नामक शहर में स्वामी विवेकानन्द ने भगवान बुद्ध पर निम्न लिखित विचार व्यक्त किये।)

हरएक धर्म में हम किसी एक प्रकार की साधना को चरम-सीमा पर पहुँची हुई पाते हैं। बुद्ध धर्म में निष्काम कर्म को अत्यन्त उच्च स्थान प्रदान किया गया है। यहाँ के निवासी बौद्ध व अन्य ब्राह्मण-प्रचारित धर्मों का भेद नहीं समझते। बौद्ध धर्म हमारे धर्म का केवल एक संप्रदाय मात्र है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था, कठिन कर्म-काण्ड व दार्शनिक वादविवादों से ग्लानि होजाने पर गौतम नामक एक महापुरुष ने बौद्ध धर्म की स्थापना की। कुछ पण्डितों का मत था कि मनुष्य जन्मत: कुछ विशेष गुणों से सम्पन्न रहते हैं—और इसलिये अन्य लोगों से वे उच्च होते हैं। गौतम का इस सिद्धान्त में कोई विश्वास न था। उन्हें ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड से घृणा थी। इसलिये उन्होंने एक ऐसे धर्म का प्रचार किया जिसमें कामनाओं व वासनाओं के लिये स्थान न था, ईश्वर के अस्तित्व के प्रति पूर्ण अज्ञेयता और दार्शनिक ऊहापोह में अश्रद्धा प्रकट की गयी।

उनसे कई बार ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गये पर उन्होंने सदैव यही उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता।" उनसे पूछा गया कि सदाचार क्या है? वे बोले, "सत्कार्य करो व सदाचारी बनो।" एक बार पाँच ब्राह्मणों ने आकर उनसे विनती की, "महर्षे, हमारे वाद-विवाद का न्याय कीजिये।" उनमें से एक ने कहा, "महर्षे, मेरे शास्त्रों में ईश्वर-प्राप्ति का यह मार्ग बतलाया गया है।" दूसरा ब्राह्मण

बोला, "नहीं, यह सब मिथ्या है, क्योंकि मेरे शास्त्र में इसके विपरीत लिखा है और ईश्वर-प्राप्ति का अन्य मार्ग बतलाया गया है।" गौतम यह विवाद शान्तिपूर्वक सुन कर उनसे क्रमशः पूछने लगे, "क्या किसी के शास्त्र में यह भी कथन है कि ईश्वर कभी क्रोध करता है, किसी की हानि करता है या सर्व-शुद्ध नहीं है?" वे सभी बोले, "नहीं भगवन, हमारे सभी शास्त्र यही कहते हैं कि ईश्वर शुद्ध, विकाररहित और कल्याण-कर है।" तब गौतम बोले, "मित्रो, तब तुम पहिले सदाचारी और अच्छे बनो, जिससे तुम्हें ईश्वर का ज्ञान हो सके।"

मैं बौद्ध-दर्शन को पूर्णतया स्वीकार नहीं करता। बुद्ध को दार्शनिक तर्कवितर्क में विश्वास नहीं था। मुझे अपने लिये उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। मेरा बुद्ध के कई सिद्धान्तों से मतभेद है, किन्तु यह मेरे उस महान् आत्मा के चारित्रिक सौन्दर्य के दर्शन में बाधक नहीं है। बुद्ध ही एक व्यक्ति थे जो पूर्णतया व यथार्थ में निष्काम कहा जा सकते हैं। ऐसे अन्य कई महापुरुष थे जो अपने को ईश्वर का अवतार कहते थे—और विश्वास दिलाते थे कि जो उनमें श्रद्धा रखेंगे, वे मुक्ति प्राप्त करसकेंगे। पर बुद्ध के अधरों पर अन्तिम क्षण तक यही शब्द थे, "अपनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से होगी। अन्य कोई इसमें तुम्हारे सहायक नहीं होसकते। स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।" अपने प्रति गौतम बुद्ध कहा करते थे, "बुद्ध शून्य-सम अनन्त ज्ञान का नाम है; गौतम को यह अवस्था प्राप्त होगई है। तुम भी प्रयत्न कर उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हो।" बुद्ध ने अपनी सब कामनाओं पर विजय पाली थी। उन्हें स्वर्ग जाने की कोई लालसा न थी, और न धन की ही कोई कामना थी। अपना राज-पाट व सर्वस्व त्याग कर सिन्धु से विशाल हृदय-वाला यह

राजकुमार आर्यावर्त के नगरों में विश्वकल्याण का उपदेश देकर, भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करने लगा। किसी प्राणी के जीवन-रक्षार्थ गौतम अपना जीवन भी निछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा, "यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हें स्वर्ग-प्राप्ति होसकती है, तो मनुष्य के होम से और किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन्, उस पशु के पाश काट कर मेरी आहुति दे दो—शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके।" राजा स्तब्ध होगया। इसलिये गौतम निष्काम होने पर भी कर्मवीर ह। गौतम महान कर्मठ व्यक्तियों के अग्रणी हैं, और जिस उच्चावस्था पर वे पहुँच गये थे उससे प्रतीत होता है कि कर्म-शक्ति द्वारा मनुष्य उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति को भी प्राप्त कर सकते हैं।

ईश्वर में विश्वास रखने से अनेक व्यक्तियों का मार्ग सुगम होजाता है। किन्तु बुद्ध का चरित्र बताता है कि एक ऐसा व्यक्ति भी जो नास्तिक है, जिसका कोई दर्शन में विश्वास नहीं, जो न किसी संप्रदाय को मानता है और न किसी मंदिर-मस्जिद में ही जाता है, जो नास्तिक व जड़वादी है, उच्चतम निर्विकार स्थिति प्राप्त कर सकता है। गौतम के जीवन का मूल्याङ्कन करन का हमें अधिकार नहीं है। बुद्ध के विशाल हृदय का सहस्रांश पाकर भी मैं स्वयं को धन्य मानता। बुद्ध की आस्तिकता या नास्तिकता से मुझे कोई मतलब नहीं। उन्हें भी वही स्थिति प्राप्त होगई थी जो अन्य जन भक्ति, ज्ञान या योग के मार्ग से प्राप्त करते हैं। केवल आस्तिकता या धार्मिक अवस्था मात्र से पूर्णता प्राप्त नहीं होती, जल्पना से कोई अर्थ-सिद्धि नहीं होती। यह तो शुक सारिका भी करलेते हैं। केवल निष्काम कर्म ही मनुष्य को पूर्णत्व तक पहुँचा सकता है।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३ **श्रीरामकृष्णवचनामृत**–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)— मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग–मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**—(विस्तृत जीवनी)— (द्वितीय संस्करण)– दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, मूल्य ५।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. **भारत में विवेकानन्द**–(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान) ५)

९. **पत्रावली (प्रथम भाग)** (प्रथम संस्करण) २=)

१०. **धर्मविज्ञान** (प्रथम संस्करण) १॥=)

११. **कर्मयोग** (प्रथम संस्करण) १॥=)

१२. **हिन्दू धर्म** (प्रथम संस्करण) १॥)

१३. **प्रेमयोग** (द्वितीय संस्करण) १।=)

१४. **भक्तियोग** (द्वितीय संस्करण) १।=)

१५. **आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग** (तृतीय संस्करण) १।)

१६. **परिव्राजक** (तृतीय संस्करण) १।)

१७. **प्राच्य और पाश्चात्य** (तृतीय संस्करण) १।)

१८. **विवेकानन्दजी की कथायें** (प्रथम संस्करण) १।)

१९. **राजयोग** (प्रथम संस्करण) १=)

२०. **स्वाधीन भारत ! जय हो !** (प्रथम संस्करण) १=)

२१. **धर्मरहस्य** (प्रथम संस्करण) १)

२२. **भारतीय नारी** (प्रथम संस्करण) ॥।)

२३. **शिक्षा** (प्रथम संस्करण) ॥=)

२४. **शिकागो वक्तृता** (पञ्चम संस्करण) ॥=)

२५. **हिन्दू धर्म के पक्ष में** (प्रथम संस्करण) ॥=)
२६. **मेरे गुरुदेव** (चतुर्थ संस्करण) ॥=)
२७. **वर्तमान भारत** (तृतीय संस्करण) ॥)
२८. **पवहारी बाबा** (प्रथम संस्करण) ॥)
२९. **मेरा जीवन तथा ध्येय** (प्रथम संस्करण) ॥)
३०. **मरणोत्तर जीवन** (प्रथम संस्करण) ॥)
३१. **मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठण की साधनायें** ॥)
३२. **भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ**—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ॥=)
३३. **मेरी समर-नीति** (प्रथम संस्करण) ।≡)
३४. **ईशदूत ईसा** (प्रथम संस्करण) ।=)
३५. **परमार्थ-प्रसंग**—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

मराठी विभाग

१-२. **श्रीरामकृष्ण-चरित्र**—प्रथम भाग (तृतीय संस्करण), द्वितीय भाग, (द्वितीय संस्करण) छापत आहे.
३. **श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा** — (द्वितीय संस्करण) ॥।=)
४. **शिकागो-व्याख्यानें**—स्वामी विवेकानंद ॥=)
५. **माझे गुरुदेव** — (द्वितीय संस्करण)—स्वामी विवेकानंद ॥=)
६. **हिंदु-धर्माचें नव-जागरण** — स्वामी विवेकानंद ॥-)
७. **पवहारी बाबा** — स्वामी विवेकानंद ॥)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, मध्यप्रान्त